

महायोगी

श्री अरविन्द

महायोगी
श्री अरविन्द

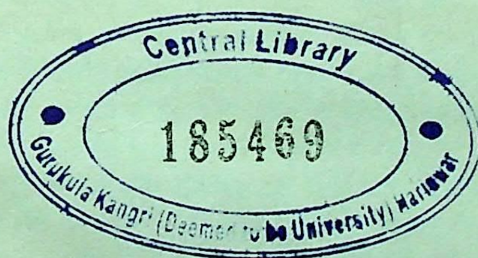
अरविन्द साहित्य

- महायोगी श्री अरविन्द
- क्रान्तियोगी श्री अरविन्द
- श्री अरविन्द विचार दर्शन
- श्री अरविन्द साहित्य दर्शन

अरविन्द प्रकाशन, दिल्ली-६

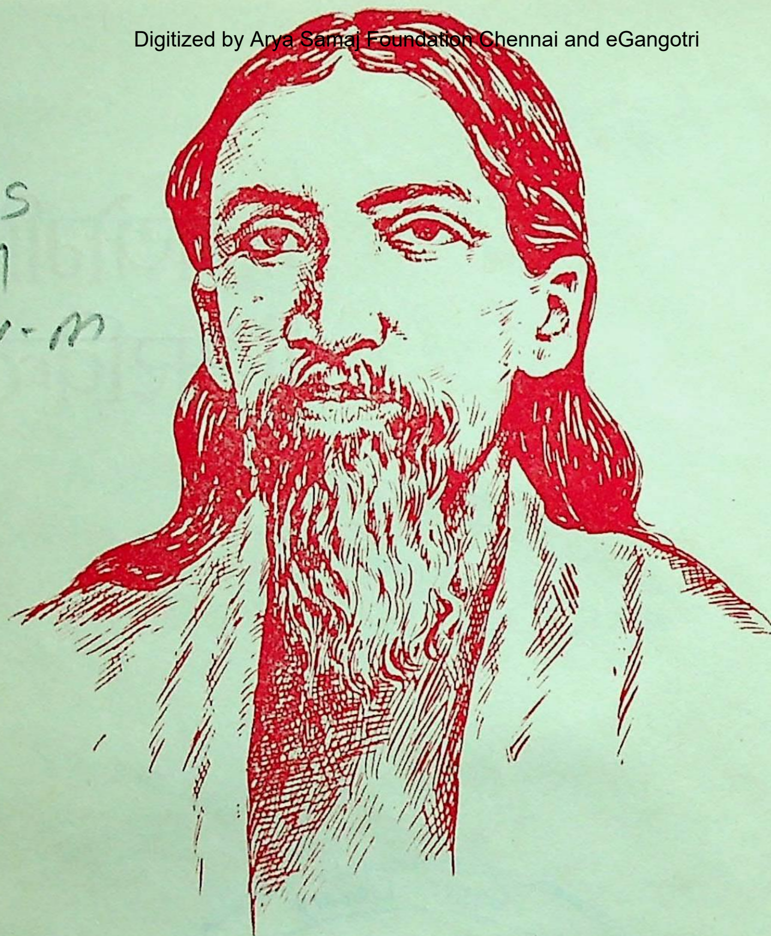
महायोगी श्री अरविन्द

परम बंधुवर श्री (डा०) रामस्वरूप आर्य जी
को सप्रेम भेंट
श्यामबहादुर
9-2-68.



डा० श्याम बहादुर वर्मा





प्रकाशक : अरविन्द प्रकाशन
२०५, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६
मूल्य : पंद्रह रुपये मात्र
संस्करण : १९७३
मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

MAHAYOGI SHRI ARVIND : Dr. Shaym Bahadur Verma
Price : Rs. 15.00

भूमिका

श्री अरविन्द के राजनीतिक जीवन की भव्यता के समान ही उनके योगी-जीवन की भी गरिमा है। आज जब विश्व में भौतिकवाद की आंधी नए रूपों में चल रही है तब आध्यात्मिकता के प्रकाशस्तम्भ के रूप में अपने जीवन को प्रकट करने वाली दिव्य विभूतियों में श्री अरविन्द अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी बौद्धिक क्षमता, साधना में वैज्ञानिक दृष्टि, अपनी मुक्ति की उपेक्षा करके भी विश्व-कल्याण में अनुरक्ति इत्यादि के अतिरिक्त 'विज्ञान' या 'अतिमानस' तत्त्व के सम्बन्ध में तथा मानव-एकता के सम्बन्ध में गहरे चिंतन की दृष्टि से उनका मौलिक योगदान अविस्मरणीय है।

पाश्चात्य जगत के आधुनिक मनीषियों को उनकी अपनी भाषा में, विचार-सरणी में समझाने के लिए भारतीय वेदांत को अभिनव रूप से प्रस्तुत करने वाले श्री अरविन्द के दार्शनिक-योगी स्वरूप के विषय में आज का भारतवर्ष कितना कम जानता है, यह आश्चर्य का विषय है। और साथ ही, महायोगी श्री अरविन्द के विषय में भारत व बाह्य विश्व कितना अधूरा ज्ञान रखता है। यह भी आश्चर्य का विषय है। श्री अरविन्द मात्र दार्शनिक नहीं थे, योगी भी थे और उन्हें उसी रूप में समझना ही ठीक समझना है। इसे समझाने के लिए विद्वानों की अनेकानेक कृतियां अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं में हैं किन्तु हिंदी में अभी ऐसी कृतियां अधिक नहीं हैं। इसी दृष्टि से श्री अरविन्द-जन्मशताब्दी के अवसर पर इस पुस्तक की रचना हुई।

श्री अरविन्द के गंभीर जीवन-चरित्र के उत्तर भाग का यह संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण 'स्वातंत्र्य योद्धा श्री अरविन्द' का पूरक रूप है। उत्तरपाड़ा-भाषण के पश्चात् से दिवंगत होने तक के लगभग ४१ वर्षों के जीवन का यहां चित्रण किया गया है। श्री अरविन्द के आध्यात्मिक जीवन की यह संक्षिप्त झांकी यदि पाठकों को उस महायोगी के विषय में और अधिक जानने अथवा उसके पथ पर चलने में कुछ भी प्रेरणा दे सके, तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

प्रस्तुत कृति को तैयार करने में श्री अरविन्द के साधक भक्तों तथा अन्य अनेक विद्वानों की कृतियों से जो सहायता मुझे मिली है उसके लिए मैं उनका

अत्यधिक ऋणी हूं। अनुशीलन पुस्तकालय (बरेली), डी० ए० वी० सांध्य कालिज पुस्तकालय (दिल्ली), आदि से मिली सहायता के लिए मैं उनके अधिकारियों के प्रति कृतज्ञ हूं। डॉ० रामेश्वर दयाल मिश्र, कु० गिरीश शर्मा, भाई धर्मेन्द्र वर्मा इत्यादि की बहुविध सहायता के लिए मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूं। परिशिष्ट में संकलित 'श्री अरविन्द नगरी 'ऑरोवील'—एक परिचय' शीर्षक निबंध के लिए विदुषी लेखिका डा० शशीप्रभा पुरंग के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकाशित करता हूं।

—श्याम बहादुर वर्मा

विषय-सूची

१. कर्मयोगी का सन्देश

श्री अरविन्द के उत्तरपाड़ा-भाषण ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अलीपुर जेल-यात्रा के पश्चात् उनके जीवन का एक और नया अध्याय प्रारम्भ हो गया है। वे अभी भी राजनीति में थे किन्तु अब वे राजनीतिक कार्यों को दिव्य कर्म के रूप में, ईश्वरीय आदेश के रूप में, स्वीकार कर रहे थे, भौतिक कर्म के रूप में नहीं। ५ मई १९०९ को वे जेल से मुक्त हुए थे। ३० मई को उत्तरपाड़ा-भाषण हुआ। फ़रवरी १९१० के प्रारम्भ में ही वे ब्रिटिश भारत छोड़कर फ्रांसीसी भारत में चन्द्रनगर चले गए। और अन्ततः ४ अप्रैल १९१० को वे पांडीचेरी पहुंच गए और ५ दिसम्बर १९५० अर्थात् महासमाधि के दिवस तक पांडीचेरी में ही रहे। निस्सन्देह चन्द्रनगर जाने से पूर्व प्रत्यक्ष रूप में श्री अरविन्द राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय रहे और उनके इन आठ-नौ मास के सक्रिय जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है।

जेल से मुक्ति के उपरान्त श्री अरविन्द 'संजीवनी' पत्र के कार्यालय में रहने लगे थे। उन दिनों वे 'युगान्तर' से सम्बन्धित कुछ युवकों को गीता जिस अलौकिकता में डूबे हुए समझाते थे, उसका वर्णन उनके जीवनी-लेखक श्री पुराणी ने किया है —"उस समय 'युगान्तर' दल के कुछ नवयुवक उनसे गीता पढ़ने आया करते थे। श्री अरविन्द बरामदे में हाथों को आड़े रखकर बैठे रहते, उस शिशिर के भयंकर शीत में केवल धोती-कुर्ता पहने। वह गीता की व्याख्या करने में इतने लीन हो जाया करते कि एक दिन तो एक बज गया। सरोजिनी भोजन लेकर आई। तब उन लोगों को यह ज्ञात हुआ कि उनके दोपहर के भोजन का समय हो चुका है, और वे गए, और तब उन्होंने भोजन किया।" श्री अरविन्द के जीवन की यह घटना उन पर पड़े गीता के गहरे प्रभाव का संकेत देती है।

इस समय तक श्री अरविन्द की राजनीतिक गतिविधियों का एक प्रमुख माध्यम 'वन्देमातरम्' पत्र सरकार के हाथों बन्द हो चुका था। लोकमान्य तिलक बर्मा में बन्दी थे और श्री अरविन्द के राष्ट्रवादी दल के सभी साथी या तो जेल में थे या इधर-उधर बिखरकर गुप्त रूप में समय व्यतीत कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार के दमन-चक्र ने राष्ट्र के राजनीतिक जीवन को मानो ध्वस्त और निष्प्राण कर

दिया था। सर्वत्र निराशा और जड़ता ही दिखाई देती थी। तब भी श्री अरविन्द ने यह पहचान लिया था कि राष्ट्र मृत नहीं है, राष्ट्र में विदेशियों के प्रति घृणा और क्रोध की मात्रा बढ़ी है और राष्ट्रीय चेतना बृहत्तर रूप में प्रकट होने के पहले की अवस्था चल रही है। वे आत्मविश्वासी भी थे कि भारत स्वतन्त्र होकर ही रहेगा क्योंकि उनके अलौकिक अनुभवों ने यह स्पष्ट कर दिया था। अतः उनमें निराशा नहीं थी। कार्य प्रारम्भ किया गया। कलकत्ता में राजनीतिक चेतना जगाने के लिए प्रति सप्ताह एक सार्वजनिक सभा आयोजित की जाने लगी। सैकड़ों की संख्या में लोग आते किन्तु उनके मन बुझे-बुझे से होते। वक्ताओं को भी लगता कि जहां सहस्रों एकत्रित हुआ करते थे, वहां अब केवल कुछ सौ लोगों का एकत्रित होना निराशाजनक है। श्री अरविन्द ने कालान्तर में इस काल का उल्लेख करते हुए कहा था—"बंगाल में जो अनुभव मिला, उसने मुझे अपनी जनता के मनोविज्ञान का अच्छा परिचय कराया। जब सभी नेता जेल में डाल दिए गए थे, और कुछ को देश से बाहर भेज दिया गया था, तब भी हम अपनी राजनीतिक सभाएं कालेज स्क्वायर में किया करते थे। किन्तु सब मिलाकर उनमें सौ के लगभग लोग होते थे, और उनमें भी अधिकतर राहगीर लोग।"

श्री अरविन्द ने राष्ट्र-चेतना को प्रदीप्त करने के लिए दो नए साप्ताहिक पत्रों का सम्पादन प्रारम्भ कर दिया—अंग्रेज़ी में 'कर्मयोगी' (लिखने में 'कर्मयोगिन्') और बंग-भाषा में 'धर्म'। 'कर्मयोगी' का प्रारम्भ १९ जून १९०९ को किया गया और 'धर्म' का २३ अगस्त १९०९ को। श्री अरविन्द अभी भी 'संजीवनी'-कार्यालय में रहते रहे किन्तु '४, श्यामपुकुर लेन' में इन पत्रों का कार्यालय-मुद्रणालय रहा और अपराह्न में श्री अरविन्द वहां पहुंच जाते और रात्रि को विलम्ब तक वहां रहते। वहां पर श्री विजय नाग और श्री नलिनीकांत गुप्त, जो अलीपुर-बम-कांड में मुक्त कर दिए गए थे, स्थायी रूप से रहते भी थे (कार्यालय के पीछे के निवासार्थ कमरों में)। श्री अरविन्द उन्हें तब फ्रेंच पढ़ाया करते। उनके पढ़ाने की शैली भी उन्हीं के अनुरूप थी, किसी प्रारम्भिक पुस्तक से नहीं अपितु मोलियर की एक प्रसिद्ध कृति से उन्होंने प्रारम्भ किया था। इस अवसर पर दिवंगत आत्माओं को बुलाकर मानव-माध्यम से स्वतःचालित लेखन का अभ्यास भी किया जाता। वस्तुतः श्री अरविन्द माध्यम के रूप में कार्य करते और श्री नलिनीकांत गुप्त आदि दर्शक होते।

श्री अरविन्द के 'कर्मयोगी' और 'धर्म' पत्रों का राष्ट्र-मन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। 'कर्मयोगी' के मुखपृष्ठ पर अर्जुन के सारथी बने श्रीकृष्ण का चित्र अंकित रहता था और गीता की उक्ति 'योगः कर्मसु कौशलम्' भी छपी रहती थी। पत्र का स्वरूप बताते हुए कहा गया था—'राष्ट्रीय धर्म, साहित्य, विज्ञान, दर्शन इत्यादि की साप्ताहिक पत्रिका' और लेखकों में 'श्रीयुत अरविन्द घोष तथा

अन्य' की घोषणा की गई थी। मात्र साप्ताहिक समाचार-पत्र के रूप में 'कर्मयोगी' का सम्पादन श्री अरविन्द को अभीष्ट नहीं था। वे इसे राष्ट्रीय चेतना की गंभीर पत्रिका के रूप में सम्पादित कर रहे थे और इसीलिए पत्रिका की नीति के विषय में प्रवेशांक के सम्पादकीय 'हम' में श्री अरविन्द ने लिखा था—" 'कर्मयोगी' साप्ताहिक, समाचारों तक ही स्वयं को सीमित न रखकर, राष्ट्रीय घटनाओं पर इस दृष्टि से विचार करेगा कि वे राष्ट्र की आत्मा के विकास और राष्ट्रीय जीवन-वृद्धि में क्या सहायता करती हैं, उसे कैसे प्रभावित करती हैं या बाधक बनती हैं। इसी दृष्टिकोण से हम राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर विचार करेंगे। पहले उनके आत्मिक और आन्तरिक कारण खोजेंगे, तब मूल रोग का निदान और उपचार करेंगे। इसी भावना से हम अतीत और वर्तमान की राष्ट्रीय शक्ति के सभी स्रोतों का आकलन करेंगे, उन्हें जन-सामान्य के समीप पहुंचाएंगे, जिससे वे हमारे जीवन का अंग बन सकें। वे स्थिर नहीं, गतिशील होंगी और जड़ नहीं, रचनात्मक होंगी। कारण यह कि सृष्टि नहीं होगी तो संहार होगा। प्रगति और विजय नहीं होगी तो अवगति और पराजय होगी ही।"

राष्ट्रात्मा के विकास के लिए 'कर्मयोगी' ने भारतीय राजनीतिक गतिविधि को "यूरोपीय या यूरोपीय मस्तिष्कों के लिए बनाए गए मार्ग" में ही प्रवाहमय रहने तथा अन्य धाराओं को बिखरे रहने देने या अप्रभावी रहने देने के ख़तरे को समझकर भारत में राष्ट्रीय राजनीति की एक ही बड़ी धारा को प्रवाहित करने की बात भी सामने रखी थी—"भारतीयता का भाव तो है किन्तु उसका ज्ञान नहीं है। एक अस्पष्ट विचार तो है, स्पष्ट धारणा या गहरी अन्तर्दृष्टि नहीं है। हमें अभी भी स्वयं को जानना है कि हम क्या थे और क्या हो सकते हैं, कि हमने अतीत में क्या किया और भविष्य में क्या कर सकते हैं: अर्थात् हमारा इतिहास और हमारा उद्देश्य। यही है सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वह कार्य जो 'कर्मयोगी' ने अपने समक्ष रखा है—इस ज्ञान का प्रचार करना। और दूसरी वस्तु है कि इन गुणों का कैसे उपयोग किया जाए जिससे राष्ट्र-जीवन समृद्ध हो और भविष्य निर्मित हो। अतीत से उनके सम्बन्ध की समीक्षा करना सरल है किन्तु भविष्य में उनका स्थान उन्हें देना अधिक कठिन है। तीसरी बात है बाह्य विश्व को, उसके हम से सम्बन्ध को तथा उससे कैसे सम्बन्ध रखना, यह जानना। यही समस्या हमें इस समय सबसे कठिन और आग्रहपूर्ण लगती है किन्तु इसका समाधान अन्य बातों के समाधान पर निर्भर करता है।"

'कर्मयोगी' के प्रवेशांक के सम्पादकीय में ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि राष्ट्र के ब्रह्मतेज को जाग्रत करने की आवश्यकता है जिसके लिए 'मज़हब' (रिलीजन) को नहीं आध्यात्मिकता को जाग्रत करना होगा क्योंकि आध्यात्मिकता (अर्थात् परमात्मा से संयोग) के कारण असीमित बल और शक्ति की प्राप्ति

होती है जो विचार और कर्म दोनों को उन्नत करती है तथा जिसको व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन के किसी भी क्षेत्र में उत्कृष्ट विकास के लिए काम में लाया जा सकता है।

'कर्मयोगी' पत्र में श्री अरविन्द कृत अनेक अनुवादों का प्रशंसनीय प्रकाशन हुआ था यथा 'ईशोपनिषद्', 'केनोपनिषद्', 'कठोपनिषद्', 'ऋतुसंहार' (कालिदास) अंशत: 'आनन्दमठ' (बंकिमचन्द्र) इत्यादि का। उनकी अनेक कविताएं भी प्रकाशित हुई थीं। किन्तु सबसे अधिक प्रभावी एवं लोकप्रिय हुई उनकी निबन्धमालाएं यथा 'राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली', 'भारत का मस्तिष्क', 'कला का राष्ट्रीय मूल्य', 'कर्मयोगी का आदर्श' इत्यादि।

श्री अरविन्द ने 'राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली' निबन्धमाला में अनेक महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए थे। उनके अनुसार 'शिक्षा का यथार्थ आधार बालक, किशोर व वयस्क मानव-मन का अध्ययन' ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि शिक्षा का उपकरण मन ही है और निरन्तर गतिशील मन को समझना ही मन को ढालने की विधि जानने के लिए शिक्षाविद् की प्रथम आवश्यकता है। श्री अरविन्द यथार्थ शिक्षण के तीन अमूल्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। प्रथम यह कि शिक्षा देने की वस्तु ही नहीं है, शिक्षक का कार्य केवल सहायता देना या मार्गदर्शन करना है, शिक्षा थोपना नहीं। विद्यार्थी किसी भी प्रकार का हो, सभी पर यह सिद्धान्त ठीक बैठता है। शिक्षक बालक को ज्ञान देता नहीं है, वह केवल बालक को यह बताता है कि वह ज्ञान को कैसे प्राप्त करे। "वह ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि वह भीतर पहले से है; वह विद्यार्थी को केवल यह दिखाता है कि ज्ञान कहां स्थित है और कैसे उसका ऊपरी तल पर आने का स्वभाव डाला जा सकता है।" दूसरा सिद्धान्त यह है कि विद्यार्थी के मन को उसके 'धर्म' के अनुसार विकसित होने देना चाहिए। "···मन के विकास में मन का भी परामर्श लेना होगा!" बात यह है कि "हर व्यक्ति में दिव्यता का अंश है, कुछ विशेषता है · और कार्य यही है कि इसको खोज निकाला जाए, विकसित किया जाए और प्रयोग में लाया जाए! शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए विकसनशील आत्मा को अपने में से सर्वोत्तम को प्रकट करने में तथा उसे श्रेष्ठ उपयोग के लिए परिपूर्ण करने में सहायता करना।" और शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त है विद्यार्थी को उसके अपने वातावरण में विकसित करना—अपने राष्ट्र, अपने युग, अपने समाज के अनुकूल। विद्यार्थी के "मन को ऐसे जीवन के बिम्बों व विचारों से व्याप्त नहीं कर देना चाहिए जो···विदेशी हैं" क्योंकि भगवान की ही यह व्यवस्था है कि मानव "किसी विशेष राष्ट्र, युग व समाज से सम्बद्ध हों, कि वे अतीत के पुत्र हों, वर्तमान के स्वामी हों तथा भविष्य के निर्माता हों।" और राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में अतीत, वर्तमान और भविष्य—तीनों को 'उचित व स्वाभाविक स्थान' मिलना ही चाहिए। श्री अरविन्द ने मानव-मन,

मन की शक्तियां, नैतिक स्वभाव, इन्द्रियों का प्रशिक्षण, अभ्यास से इन्द्रियों का विकास, मानसिक क्षमताओं का प्रशिक्षण, तर्क-शक्ति का प्रशिक्षण आदि पर अमूल्य विचार प्रकट करते हुए राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत इन लेखों में दिए थे। धार्मिक शिक्षा का सही प्रकार, मातृभाषा में शिक्षा देने का महत्त्व, बालक को प्रारंभ से ही अनेक विषयों को पढ़ाने की खिचड़ी-पद्धति के स्थान पर एक या दो विषयों को भली प्रकार और गहराई से पढ़ाने की पद्धति, सर्वप्रथम मातृभाषा के प्रयोग में निपुण बनाने की आवश्यकता, बालक के व्यक्तिगत गुणों को विकसित होने देने की आवश्यकता एवं उसकी पद्धति आदि पर उनके विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मननीय हैं।

'भारत का मस्तिष्क' निबन्धमाला में प्रचलित शिक्षा-पद्धति के अनेक दोष बताते हुए तथाकथित 'राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति' के खोखले स्वरूप को भी उद्घाटित किया गया था। केवल कुछ सुधरी हुई यूरोपीय पद्धति और राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति का अर्थ सौ-दो सौ या अधिक वर्षों पुराने ढंग की पाठशालाएं चलाना भी नहीं हो सकता। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति का लक्ष्य तो "प्राचीन और अधिक शक्तिशाली भारत की भावना, आदर्शों व कार्यप्रणालियों को और भी अधिक प्रभावी रूप में तथा अधिक आधुनिक संगठन के द्वारा पुनः जीवित करना है।" श्री अरविन्द के अनुसार रामायण, महाभारत तथा भारतीय दर्शन, कला, स्थापत्य आदि में दिखाई देने वाली महान बौद्धिकता, आध्यात्मिकता और नैतिकता तथा राष्ट्र के शौर्य व अजेय प्राण-शक्ति का आधार वह महान साधना थी जिसमें मन व आत्मा का पूर्ण संस्कार मानव-मनोविज्ञान के आधार पर किया जाता था। वे 'जानकारी' को शिक्षा का आधार मानने का खण्डन करते हैं और ज्ञान देने तक सीमित शिक्षा को सही शिक्षा नहीं मानते। शिक्षा के अन्तर्गत तो स्मरणशक्ति, विवेक, कल्पना, अवलोकन तथा तर्कशक्ति को भी साजने-सँवारने की आवश्यकता है। वे बताते हैं कि परमात्मा की शक्ति को अधिक से अधिक मात्रा में धारण करने के लिए एक सुदृढ़ शरीर का निर्माण आवश्यक है और उसके लिए शिक्षा-पद्धति में ब्रह्मचर्य एक आवश्यक नियम है। श्री अरविन्द ने ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्राचीन सिद्धान्त अत्यन्त सुन्दरता से प्रतिपादित किया है। निष्कर्षतः वे बताते हैं कि "ब्रह्मचर्य से हम जितना अधिक तप, तेज, विद्युत और ओज का भंडार बढ़ा सकते हैं, उतना ही हम स्वयं को शरीर, हृदय, मन और आत्मा के कार्यों के लिए चरम शक्ति से भर लेंगे।" उन्होंने सात्विकता के अधिक प्रकाश के लिए तमोगुण को हटाने और रजोगुण को नियंत्रित करने की पद्धति पर भी प्रकाश डाला था। प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति से जिस प्रकार असाधारण प्रतिभाशील भारतीयों का विकास हुआ था, उसकी महत्ता की चर्चा भी श्री अरविन्द ने की थी। कालिदास और शंकराचार्य की बहुमुखी व उत्कृष्ट प्रतिभा के प्राचीन

उदाहरण ही नहीं, रामकृष्ण परमहंस का आधुनिक उदाहरण भी यूरोपीयों को चकित कर देने वाला है। यूरोप में ऐसी बहुमुखी प्रतिभा इतनी गहराई के साथ कहीं नहीं मिलती। ब्रह्मचर्य द्वारा आन्तरिक प्रकाश अर्थात् सात्विकता के विकास से ही प्राचीन भारत में यह असाधारण क्षमता विकसित हुई थी। "इस प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति तथा अन्य बौद्धिक कार्य करना सरल, स्वाभाविक, शीघ्र, निश्चयात्मक और तुलनात्मक रूप में शरीर या मस्तिष्क को न थकाने वाला होता है।" इस प्रकार "आर्यों की बौद्धिक उपलब्धियों का रहस्य दो वस्तुओं में ही है। ब्रह्मचर्य और सात्विक विकास ने ही भारत का मस्तिष्क विकसित किया था। इसे योग से पूर्ण किया जाता था।" श्री अरविन्द बताते हैं कि अभी भी प्राचीन काल के समान विकास की क्षमता भारतीय मस्तिष्क में है परन्तु विदेशी भाषा के माध्यम से अध्ययन और उसमें भी अधकचरे रूप से ढेरों अपरिचित विषयों को सीखने की अस्वाभाविक प्रक्रिया ने भारतीय मस्तिष्क को दुर्बल कर दिया है। अन्त में श्री अरविन्द ने "राष्ट्रीय शिक्षा की नई प्रणाली में मातृभाषा के प्रयोग द्वारा इस दोष को दूर करने का" तथा स्मरण-शक्ति, तर्कशक्ति आदि को विकसित करने का महत्त्वपूर्ण सन्देश दिया था।

'कर्मयोगी का आदर्श' निबन्धमाला में श्री अरविन्द ने अनेक महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रभक्तों का लक्ष्य घोषित करते हुए कहा था—"हमारा लक्ष्य किसी एक प्रकार की सरकार को बदल डालना नहीं है, प्रत्युत एक राष्ट्र का निर्माण करना है। उस काम का राजनीति भी एक भाग है, परन्तु एक भाग मात्र है।" उन्होंने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात बताते हुए कहा था कि हमारा राष्ट्रीय धर्म 'सनातन धर्म' ही वह तत्त्व है जिसके अन्तर्गत राजनीति, सामाजिक दर्शन, ब्रह्मविद्या आदि सब कुछ आ जाते हैं और इस धर्म को समझना, इसके अनुसार जीवन जीना अर्थात् कर्मयोगी भारत को बनाना ही राष्ट्रभक्तों का उद्देश्य है। इस आध्यात्मिक क्रान्ति के लिए ही भारतीय आन्दोलन हो रहा है और "भौतिक क्रान्ति तो इसकी छाया एवं प्रतिबिम्ब मात्र है।" श्री अरविन्द ने भारत को यूरोप की नकल बनाने का खण्डन किया था। समाज-सुधारक बनने में संतोष मानने वालों को भी उन्होंने अधिक गहराई से सोचने के लिए कहा था—"विधवा-विवाह, जात-पांत की जगह वर्गपद्धति की स्थापना, बालविवाह-निषेध, अन्तर्जातीय विवाह, अन्तर्जातीय भोज तथा समाज-सुधारक के बताए हुए अन्य सस्ते इलाज तो ऐसे मशीनी परिवर्तन मात्र हैं जो अच्छे या बुरे जैसे भी हों, केवल अपने बल पर राष्ट्र की आत्मा को जीवित नहीं रख सकते तथा अवनति व विनाश के प्रवाह को नहीं रोक सकते। जीवित रखने वाली तो केवल आत्मा है और हृदय से स्वतंत्र तथा महान बनने से ही हम सामाजिक और राजनीतिक रूप में महान व स्वतंत्र बन सकते हैं।"

उन्होंने हिन्दू धर्म में भावी विश्व-धर्म का आधार घोषित किया था क्योंकि यह सभी धर्मों, सभी धर्मशास्त्रों को स्वीकार करता है तथा आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूतियों को सर्वोपरि मान्यता देता है। अत्यंत स्पष्ट स्वर में उन्होंने भारतवर्ष के स्वातंत्र्य का लक्ष्य घोषित करते हुए कहा था—"अतएव हमारा लक्ष्य होगा मानवता के लिए भारतवर्ष के निर्माण में सहायता करना।" एक स्थान पर उन्होंने लिखा था कि "हम भारत राष्ट्र से कहते हैं—यह ईश्वर की ही इच्छा है कि हम भारतीय होकर रहें और यूरोपीय न बनें।...हमारा कार्य है—सबसे पहले अपने आप को जानना और फिर भारत के सनातन जीवन तथा उसकी प्रकृति के नियम के अनुकूल प्रत्येक वस्तु को ढालना।..."हमें पश्चिम से जो कुछ लेना है उसे हम भारतीय रहते हुए लेंगे। उन्होंने भारतीयों को, विशेषतः तरुणों को, आह्वान देते हुए कहा था—"...सबसे पहले भारतीय बन जाओ। अपने पूर्व-पुरुषों की पैतृक सम्पत्ति को फिर से प्राप्त करो। आर्य विचार, आर्य अनुशासन, आर्य चरित्र और आर्य जीवन को पुनः प्राप्त करो। वेदान्त, गीता और योग को फिर से प्राप्त करो। उन्हें केवल बुद्धि या भावना से ही नहीं, अपितु जीवन द्वारा पुनः जीवित कर दो। उन्हें जीवन में लाओ और तुम महान, दृढ़, शक्तिशाली, अजेय तथा निर्भय बन जाओगे। तब तुम्हें न तो जीवन भयभीत कर सकेगा और न मृत्यु। 'कठिन' और 'असंभव' शब्द तुम्हारे शब्दकोशों से विलुप्त हो जायेंगे।...संपूर्ण शक्ति के स्रोत को अपने में फिर से प्राप्त कर लो तो अन्य सब कुछ तुम्हें आ मिलेगा—सामाजिक स्वस्थता, बौद्धिक प्रमुखता, राजनीतिक स्वाधीनता, मानव-विचार पर प्रभुत्व और संसार का नेतृत्व।"

श्री अरविन्द ने 'कर्मयोग' शीर्षक लेख में प्रारम्भ में लिखा था—"...वेदांत और योग को जीवन में चरितार्थ करना कर्मयोग है और फिर कर्मयोग की मार्मिक विवेचना की थी। 'दोनों अवस्थाओं में' शीर्षक निवंध में ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी दोनों अवस्थाओं में ईश्वर पर अविचल श्रद्धा रखकर ध्येय-प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्नशीलता का संदेश दिया था—"जो मनुष्य सच्चे ध्येय को इसलिए छोड़ देता है कि इसमें सफलता नहीं मिल रही, वह गर्हणीय है और वह वर्तमान तथा भविष्य में मनुष्य जाति को आघात पहुंचाता है।" उन्होंने आध्यात्मिकता, साधना, तपस्या, ज्ञान और शक्ति से ही महान भारत के निर्माण का सन्देश दिया था। उन्होंने राष्ट्र का ध्यान एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर आकर्षित करते हुए कहा था—"गत शताब्दी के आन्दोलन इसलिए असफल रहे कि वे अत्यन्त विशुद्ध रूप में बौद्धिक थे और उनके पीछे ज्ञान-दीप्त हृदय नहीं था। राष्ट्रवाद ने इस न्यूनता को पूरा करने का प्रयत्न किया है।..."परन्तु राष्ट्रवाद भी सदोष रहा है, यह भावना और आकांक्षा में भारतीय रहा है परन्तु क्रिया और व्यवहार में यूरोपीय!...इसे अन्तःस्फुरित प्रज्ञा का पर्याप्त आश्रय नहीं मिला है...।"

इन लेखों में से अनेक तो शुद्ध दार्शनिक महत्त्व के लेख थे जैसे 'तीन पुरुष'। किंतु सभी लेखों में एक नयी अभिव्यक्ति, एक नया उत्साह, एक नयी प्रेरणा स्पष्ट दिखाई देती थी। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की यह बहुमूल्य सामग्री आज भी उतनी ही मननीय है जितनी पहले थी क्योंकि इसमें राष्ट्र-निर्माण के सनातन सत्यों का निरूपण है और आज स्वतंत्र भारत में राष्ट्र-निर्माण की सही दिशाओंऔर विधियों का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

जिस प्रकार 'कर्मयोगी' की अंग्रेज़ी में लिखित सामग्री में राष्ट्रात्मा का भव्य उद्‌बोधन था, उसी प्रकार 'धर्म' की बंग-भाषागत सामग्री में भी। इसमें प्रकाशित उनके बीस लेखों का एक संकलन 'धर्म और जातीयता' के नाम से प्रकाशित भी हुआ है। ये निबन्ध हैं—'हमारा धर्म', 'गीता का धर्म', 'संन्यास और त्याग', 'माया', 'अहंकार', 'निवृत्ति', 'उपनिषद', 'पुराण', 'प्राकाम्य', 'विश्वरूपदर्शन', 'स्तवस्तोत्र', 'नवजन्म', 'जातीय उत्थान', 'न्यारे की समस्या', 'स्वाधीनता का अर्थ', 'देश और जातीयता', 'हमारी आशा', 'प्राच्य और पाश्चात्य', 'भ्रातृत्व' तथा 'भारतीय चित्रकला'। सभी निबन्धों में सरल भाषा, स्पष्ट विचार तथा गम्भीर चिंतन के कारण सामग्री अत्यन्त सरस हो गई है। श्री अरविन्द के इन निबंधों से यह ज्ञात होता है कि बंग-भाषा को लिखने में वे निपुण हो गए थे और उसमें अपनी भावाभिव्यक्ति, विचार-प्रकाशन करने की क्षमता उन्होंने विकसित कर ली थी। अंग्रेज़ी तो उन्होंने मातृभाषा के समान सीखी थी और बंग-भाषा स्वतः अभ्यास से। और इस प्रकार उन भारतीयों के सामने एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था जो विदेशी भाषा पर तो अधिकार रखते ही नहीं, अपनी मातृभाषा में भी अधकचरे होते हैं और इस पर लज्जित भी नहीं होते।

राष्ट्र-धर्म के मंत्र को इन निबंधों में भी अत्यंत कुशलता से श्री अरविन्द ने बंग-भाषी समाज को देने की चेष्टा की थी। "जगदीश भगवान के मंदिर में जाति-विचार नहीं है," "सारा जीवन धर्मक्षेत्र है और संसार भी धर्म है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान की आलोचना और भक्ति का भावही धर्म नहीं, कर्म भी धर्म है। हमारे सारेसाहित्य में यही उच्च शिक्षा अतिप्राचीनकालसेसनातन भाव से व्याप्त हो रही है", "राष्ट्रीयता भी सत्य है और मानव जाति भी। एकता भी सत्य है। इन दोनों सत्यों के सामंजस्य में ही मानव जाति का कल्याण है", "भ्रातृत्व के ऊपर साम्य की स्थापना न करके साम्य के ऊपर भ्रातृत्व की स्थापना करने की चेष्टा करना समाजवादियों की भूल है।·· हम सब लोग एक माता की संतान और देश-भाई हैं, एक तरह से यही भाव भ्रातृत्व की स्थापना है" इत्यादि पंक्तियों में राष्ट्र के लिए आवश्यक जागरण-संदेश था।

एक ओर तो श्री अरविन्द इन पत्रों के माध्यम से राष्ट्र को प्रेरणाप्रद विचार तथा आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को दार्शनिक आधार प्रदान कर रहे थे, दूसरी ओर वे

जनजागरण के लिए यत्र-तत्र दौरा भी कर रहे थे। उस समय ब्रिटिश वायसराय मिंटो अपनी अनुदार नीति तथा भारत-राज्य-सचिव मार्ले की उदारता की भावना के मध्य जो तनाव था, उसे देखकर भी नरमपंथी नेताओं को ब्रिटिश-कृपा पर विश्वास बना हुआ था जबकि राष्ट्रवादी नेता श्री अरविन्द तथा उनके सहयोगी यह स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि मिंटो और मार्ले अथवा उदार व अनुदार अंग्रेज़ परस्पर कितने भी विरोधी हों, भारत पर ब्रिटेन का शासन बनाये रखने में दोनों एकमत ही हैं। अतः मिंटो-मार्ले-सुधारों को श्री अरविन्द किंचित भी महत्त्व देने को तैयार नहीं थे और उन्हें यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि स्वतंत्रता किसी भी अंश में, इनसे प्राप्त होने वाली नहीं है। अंग्रेज़ सरकार का दमन-चक्र भी नहीं रुका था, फिर अंग्रेज़ों की नीति को सहृदयतापूर्ण मानने का क्या अर्थ था ? अंग्रेज़-दृष्टि यह समझ गई थी कि राष्ट्रवादी नेता श्री अरविन्द के तेजस्वी व्यक्तित्व के रहते हुए भारतीय समाज को भुलावे में डालना असंभव है और इस कारण श्री अरविन्द को भारत से कहीं दूर ले जाने की, निर्वासित करने की सरकारी योजना बन रही थी। इसका पता श्री अरविन्द को भगिनी निवेदिता से चल गया जिन्होंने उन्हें किसी सुरक्षित स्थान में गुप्त रूप से रहते हुए राष्ट्रीय आंदोलन को चलाते रहने की सलाह दी थी। उस समय श्री अरविन्द ने 'अपने देशवासियों के नाम एक खुला पत्र' शीर्षक से 'कर्मयोगी' में एक विशेष लेख प्रकाशित किया था। रोचक, महत्त्व-पूर्ण तथा श्री अरविन्द की राजनीतिज्ञता का एक विशेष प्रमाण होने के कारण यह पूरा लेख द्रष्टव्य है—

अपने देशवासियों के लिए खुला पत्र

आज भारतवर्ष में अपना कर्तव्य पालन करने वाले किसी भी सामाजिक कार्यकर्ता की स्थिति इतनी अनिश्चित हो गई है कि वह आगामी कल के विषय में भी आश्वस्त नहीं हो सकता। मैं अभी-अभी ही अपने देश के लिए कार्य करने से पृथक एक वर्ष के एकान्तवास से मुक्त होकर आया हूं जहां मैं ऐसे आरोप में भेजा गया था जिसका समर्थन करने के लिए रत्ती-भर भी विश्वसनीय प्रमाण नहीं था। किन्तु मेरा निर्दोष घोषित होकर छूट जाना न तो किसी नए आरोप में फांसे जाने से निश्चिन्त करने की बात है और न निर्वासन के मनमाने क़ानून से जिसमें आरोप लगाने की असुविधाजनक औपचारिकता की भी छुट्टी हो जाती है और साथ ही और भी अधिक असुविधाजनक प्रमाण जुटाने की आवश्यकता की भी। विशेषतः जब ऐंग्लो-इंडियन प्रेस के शिकारी कुत्ते हम पर भौंकते रहें, और सरकार से निरन्तर यह मांग करते रहें कि प्रत्येक व्यक्ति को, जो देशभक्ति और तदनुसार कर्तव्यों की आवाज़ उठाए, हटा दिया जाए तब व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अवधि इतनी ही है जो अनिश्चित से भी अधिक ख़राब है। यह उड़ती ख़बर ज़ोरों पर है

कि कलकत्ता पुलिस ने सरकार को मेरे निर्वासन की बात निवेदित कर दी है। और न तो देश की शांति ही और न हमारे कार्य की नियमानुकूल वैधता ही सरकारी रखवाले कुत्तों के—जो शिमला में परामर्श देने वालों के नैतिक संकोच को मिटाने वाले हैं—सर्वशक्तिमान आदेश की आकस्मिकता के विरुद्ध कोई गारंटी है। ऐसी परिस्थितियों में मैंने यह ठीक समझा है कि वर्तमान की आवश्यकताओं और भावी नीति के विषय में इस पत्र को स्वदेशवासियों को सम्बोधित करके लिखूं, और विशेषत: उनको जो राष्ट्रवादी दल के सिद्धान्तों को मानते हैं। मेरा निर्वासन हो जाने की अवस्था में यह उनके पथप्रदर्शन में सहायक होगा जो मार्ग के विषय में सुनिश्चित न हों। और, यदि मैं वापस न लौटूं तो यह अपने देशवासियों के नाम मेरा अंतिम राजनीतिक इच्छा-पत्र और वसीयत हो सकता है।

राष्ट्रवादी दल की स्थिति कठिन तो है, पर असाध्य नहीं है। कुछ लोगों का यह विचार, कि दल समाप्त हो गया है क्योंकि इसके नेताओं को जेल में डाल दिया गया है, या निर्वासित कर दिया गया है, एक त्रुटि है जो ऊपरी तल पर देखने से उत्पन्न होती है। दल तो है और वह पहले से न तो कम शक्तिशाली है और न कम व्यापक, किन्तु नीति और नेता का अभाव है। इसमें से प्रथम को तो यह स्वयं पा सकता है किन्तु दूसरे को तो केवल परमात्मा दे सकता है। सभी महान आंदोलन ईश्वर-प्रेषित नेता के लिए—जो ईश्वरीय शक्ति का संकल्पित यंत्र होता है—प्रतीक्षा किया करते हैं और जब वह आ जाता है, तभी आन्दोलन अपनी पूर्ति की ओर विजयपूर्वक बढ़ते हैं। जिन लोगों ने अभी तक नेतृत्व किया है, वे उच्च गुणों और प्रभावी प्रतिभा के लोग रहे हैं, इतने महान कि किसी भी अन्य आन्दोलन का नेतृत्व कर सकें, किन्तु वे भी इतने पर्याप्त नहीं थे कि इस एक आन्दोलन को, जो विश्वव्यापी क्रान्ति की प्रमुख धारा है, पूर्णता तक पहुंचा सकें। अत: भावी के संरक्षक राष्ट्रवादी दल को उस व्यक्ति के आगमन की प्रतीक्षा करनी चाहिए जो आने को है और जो होगा—विपत्तियों के मध्य शान्त, पराजय में भी आशावान, घटनाओं में से निकलने तथा विजय पाने का आश्वस्त और सदैव अपने उस दायित्व को ध्यान में रखने वाला, जो भारत की भावी सन्तानों के प्रति ही नहीं, विश्व के प्रति है।

इस बीच, हमारी स्थिति की कठिनाइयां साहसपूर्ण किन्तु सतर्क गति की मांग करती हैं। हमारी स्थिति की शक्ति नैतिक है, भौतिक नहीं। देश की समग्र भौतिक शक्ति स्थापित सत्ता के हाथों में है, जिनको हमारी सफलता, जहां तक इसके वर्तमान रूप की बात है, पहचानने में भी न आने योग्य रूपान्तरण द्वारा समाप्त कर देगी। यह स्वाभाविक है कि वह सत्ता अपनी समस्त भौतिक शक्ति से यथासंभव उस रूपान्तरण को रोकने का प्रयत्न करे। देश की सम्पूर्ण नैतिक शक्ति हमारे साथ है, न्याय हमारे साथ है, प्रकृति हमारे साथ है। परमात्मा का क़ानून जो

किसी भी मानवीय क़ानून से उच्चतर है, हमारे कार्य को न्यायपूर्ण सिद्ध करता है। यौवन हमारे लिए है, भविष्य हमारा है। उस नैतिक शक्ति पर हमें अपने जीवित बच निकलने और संभावित सफलता पर विश्वास करना चाहिए। हमें किसी उद्धत अधैर्य पर लुब्ध होकर उस आधार को नहीं त्याग देना चाहिए, जिस पर हम सशक्त हैं और उस आधार पर नहीं चल पड़ना चाहिए जिस पर हम दुर्बल हैं। हमारा आदर्श ऐसा है जिसे कोई क़ानून बुरा नहीं कह सकता। हमारी स्वीकृत विधियां ऐसी हैं कि कोई आधुनिक सरकार उन्हें स्पष्ट रूप में ग़ैरक़ानूनी तब तक घोषित नहीं कर सकती, जब तक वह स्वयं को सभ्य शासन समझे जाने का दावा भी न छोड़ दे। अपनी संभावित सफलता के लिए उस आदर्श और उन विधियों पर हमें दृढ़तापूर्वक जमे रहना चाहिए और उन पर विश्वास भी रखना चाहिए। क़ानून के प्रति सम्मान राष्ट्र के रूप में बने रहने का एक आवश्यक गुण है और भारतीय जनता का यह सदैव ही एक विशिष्ट लक्षण रहा है। अतएव हमें क़ानून का ईमानदारी से पालन करना चाहिए और साथ ही उसके द्वारा दिए जाने वाले संरक्षण का भी लाभ उठाना चाहिए और उस स्वतन्त्रता का भी, जो यह अभी भी हमारे कार्य को व हमारे प्रचार को आगे बढ़ाने में प्रदान करता है। उन छुटपुट हत्याओं से, जिन्होंने देश को अशान्त कर दिया है, हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है और एक वार उनसे स्पष्टतया और दृढ़तापूर्वक असम्बद्ध हो जाने पर हमें उन पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। वे ग्राम्य और हानिकर नीति का ग्राम्य और हानिकर फल हैं और जब तक उस नीति के निर्माता अपनी त्रुटियां नहीं त्यागते तब तक कोई भी मानवीय शक्ति विष-वृक्ष को वैसा ही फल देने से नहीं रोक सकती। कानूनों के निर्माण अथवा उनके प्रशासन में अपनी कोई आवाज़ न रखने वाले हम लोग इस विषय में असहाय हैं। बुद्धिमत्तापूर्ण और सशक्त शासन में असमर्थ मनुष्यों के प्रिय उपकरणों, निर्वासन और घोषणा, के विरुद्ध हम केवल एक वैध नीति और श्रेष्ठ आदर्श के प्रचार व व्यवहार के प्रति स्थिर व निर्भीक निष्ठा ही प्रस्तुत कर सकते हैं।

हमारा आदर्श है पूर्ण स्वराज अर्थात् विदेशी नियंत्रण से मुक्त पूर्ण स्वशासन। हम प्रत्येक राष्ट्र के इस अधिकार का दावा करते हैं कि वह अपना जीवन-यापन अपनी शक्तियों से अपनी प्रवृत्ति व आदर्शों के अनुसार करे। हम विदेशियों के इस अधिकार को ठुकराते हैं कि वे हमारी अपनी सभ्यता की अपेक्षा घटिया सभ्यता को हमारे ऊपर लाद दें अथवा हमारी पैतृक सम्पत्ति से हमें इस अयुक्तियुक्त आधार पर वंचित करें कि वे अधिक उपयुक्त हैं। सुदीर्घ पराधीनता के कारण अपनी राष्ट्रीय क्षमता व शक्ति में आ गए धब्बों और दोषों को स्वीकार करते हुए भी, हमें बोध है कि वह क्षमता और शक्ति हममें पुनः संचारित हो रही है। हम ध्यान दिलाते हैं उस अद्वितीय राष्ट्रीय शक्ति की ओर, जिसने इस देश की

जाति को विपत्ति और पराजय की शताब्दियों में बनाए रखा, अपने पूर्वजों के उन महान कार्यों की ओर, जो कल तक होते रहे, उन विद्वान और चरित्रवान अनेकानेक पुरुषों की ओर, जिनके समान व्यक्तियों को परतंत्रावस्था में किसी अन्य राष्ट्र ने उत्पन्न नहीं किया। और, हम कहते हैं कि जो जाति ऐसी अश्रुत जीवन-शक्ति में सक्षम है, उसे बच्चों और अयोग्यों का राष्ट्र कहकर नहीं दवाया जा सकता। हम किसी भी प्रकार अपने पूर्वजों से निकृष्ट नहीं हैं, हमारे पास मस्तिष्क हैं, साहस है, अनन्त और विविध प्रकार की राष्ट्रीय क्षमता है। हमें आवश्यकता है केवल क्षेत्र और अवसर की। वह क्षेत्र और अवसर तो एक राष्ट्रीय सरकार, एक स्वतन्त्र समाज और एक महान भारतीय संस्कृति ही प्रदान कर सकते हैं। जब तक हमें ये न मिलें, तब तक हमारे मस्तिष्क, साहस और क्षमता का यही उपयोग हो सकता है कि हम उन्हें प्राप्त करने के लिए अनवरत संघर्ष करते रहें।

हमारे स्वराज के आदर्श में किसी अन्य राष्ट्र के प्रति घृणा का समावेश नहीं है और देश में क़ानून के इस समय स्थापित प्रशासन के प्रति कोई घृणा है। इस समय नौकरशाही प्रशासन है, हम इसे जनतंत्रीय बनाना चाहते हैं। इस समय एक विदेशी सरकार है, हम इसे देशी बनाना चाहते हैं। इस समय विदेशी नियंत्रण है, हम इसे भारतीय बनाना चाहते हैं। वे झूठ बोलते हैं, जो कहते हैं कि इस आकांक्षा में घृणा और हिंसा आवश्यक है। हमारा देशभक्ति का आदर्श प्रेम और भ्रातृत्व के आधार पर चलता है और यह राष्ट्र की एकता के परे देखता है और मानव जाति की चरम एकता का भी विचार करता है। किन्तु हम खोजते हैं भाइयों की एकता, समान और स्वतन्त्र लोगों की एकता, न कि स्वामी और दास की एकता, भक्षक और भक्ष्य की एकता। हम एक स्पष्ट जाति और राष्ट्र के रूप में अपनी समष्टिगत सत्ता के बोध की मांग करते हैं क्योंकि इसी विधि से मानव जाति की चरम एकता प्राप्त की जा सकती है, जातियों को तथा बाह्य विशिष्टताओं को समाप्त करके नहीं अपितु एकता में आंतरिक बाधाओं—घृणा, विद्वेष और भ्रमों—को दूर करके। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष में उनके प्रति घृणा सम्मिलित नहीं है जो ग़लती से उन अधिकारों को मना करते हैं। इसमें सम्मिलित है केवल एक संकल्प कष्ट उठाने और प्रयत्न करने का, साहसपूर्ण और बिना व्यक्तियों का लिहाज़ किए, सत्य बोलने का तथा स्वयं को स्थापित करने और प्रगति-नियम में बाधक जो भी हो, उसे विस्थापित करने के लिए, दबाव के प्रत्येक वैध साधन तथा नैतिक शक्ति के प्रत्येक स्रोत का प्रयोग करने का।

हमारी विधियां हैं आत्म-सहायता और निष्क्रिय प्रतिरोध। राष्ट्रवादी दल ने, सार्वजनिक रूप से और स्पष्ट रूप से, अपनी नीति स्वीकार की थी—अपनी दक्षता दिखाने के लिए उस विधि में स्वयं एक होना और संगठित होना जिसमें हम अपने उद्योगों को विकसित कर सकें, अपने वैयक्तिक झगड़ों को हल कर सकें'

सार्वजनिक अवसरों पर व्यवस्था व शान्ति रख सकें, स्वच्छता के प्रश्नों पर ध्यान दे सकें, बीमार और पीड़ितों की सहायता कर सकें, अकाल-पीड़ितों का कष्ट दूर कर सकें, अपनी बौद्धिक, प्राविधिक और भौतिक शिक्षा चला सकें, अपने आन्तरिक मामलों के लिए अपनी सरकार इस सीमा तक विकसित कर सकें जहां तक कानून का उल्लंघन किए बिना या नौकरशाही प्रशासन की कानूनी सत्ता का विरोध किए बिना करना संभव हो। बंगाल में हम इतने विकसित हो गए थे कि इन सभी विषयों में अपनी क्षमता का स्पष्ट प्रमाण दे सके थे और एक सशक्त, एकतापूर्ण और सुसंगठित बंगाल एक समीपस्थ और निश्चित संभावना बन गया था। सूरत में प्रकट होने वाली आन्तरिक विपत्तियां और उसके तत्काल पश्चात प्रारंभ दमननीति — जिसकी पराकाष्ठा हमारे संगठनों के विध्वंस और स्वदेशी कार्यकर्ताओं व सहानुभूति रखने वालों को प्रभावी रूप में सरकारी कर्मचारियों द्वारा त्रस्त करने में हुई—दोनों ही हमारी उन्नति में गंभीर बाधाएं रहे हैं और इस समय तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने हमारी आशाओं के साकार होने को दूर भविष्य के लिए स्थगित कर दिया है। यह बाधा अस्थायी है। जनता का साहस और विश्वास पुनः लाने के लिए तथा दमन-कानूनों से न टकराने वाली संगठन की नई विधियों के विकास के लिए हमारे नेताओं में साहस और स्वस्थ राजनीतिमत्ता की ही आवश्यकता है।

निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का विकास अंशतः तो आत्मसहायता के आवश्यक पूरक के रूप में तथा अंशतः सरकार पर दवाव डालने के साधन के रूप में हुआ था। इस नीति का सारतत्त्व है तब तक के लिए सहयोग देने की अस्वीकृति जब तक हमें क़ानून-निर्माण, अर्थ-विभाग और प्रशासन में पर्याप्त भाग और प्रभावी नियंत्रण न प्राप्त हो। जिस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के अमरीकी संवैधानिक आन्दोलन का नारा था—"प्रतिनिधित्व नहीं तो टैक्स नहीं", उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के हमारे क़ानून-सम्मत — क्योंकि हमारा कोई संविधान तो है ही नहीं—आन्दोलन का नारा होना चाहिए—"नियंत्रण नहीं तो सहयोग नहीं।" हम इस सहयोग-अस्वीकृति को सुविधाप्रद शब्द 'बहिष्कार' में समाहित करते हैं, अपने देश के औद्योगिक शोषण में, शिक्षा में, शासन में, न्यायिक प्रशासन में तथा कार्यालयी सम्बन्ध के विवरणों में सहयोग की अस्वीकृति। अवश्य ही, हमने सहयोग की इस अस्वीकृति को पूर्ण और अटल नहीं बनाया है किन्तु हम इसे एक विधि मानते हैं जिसे नैतिक दबाव की आवश्यकता अधिक बड़ी तथा और अधिक महत्त्वपूर्ण होने पर बृहत्तर किया जा सकता है तथा आगे बढ़ाया जा सकता है। यह इस नीति का केवल एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है आत्म-सहायता के क्षेत्र में हमारी अपनी नवजात शक्तियों को बहिष्कार द्वारा सहायता पहुंचाना। विदेशी माल का बहिष्कार स्वदेशी उद्योगों के लिए अनिवार्य शर्त है, राष्ट्रीय शिक्षा के

लिए सरकारी स्कूलों का बहिष्कार अनिवार्य शर्त है, पंचायत के विस्तार के लिए सरकारी न्यायालयों का बहिष्कार अनिवार्य शर्त है। केवल प्रश्न यह है कि बहिष्कार कितना हो और उसकी क्या स्थितियां हों, और उसका निर्धारण प्रत्येक मामले में विशिष्ट समस्या की परिस्थितियों द्वारा होना चाहिए। पहले तो निष्क्रिय प्रति-रोध की सामान्य भावना उठानी है, बाद में यह संगठित, नियमित और जहां आवश्यक हो वहां सीमित की जा सकती है।

हमारे विकास में पहली बाधा है वह आन्तरिक विवाद जिसने इस समय तो कांग्रेस को ध्वस्त कर दिया है और उसके स्थान पर राष्ट्रीय सभा की एक खोखली और विकृत नक़ल रह गई है जिसका गत वर्ष मद्रास में सम्मेलन हुआ था, और, यद्यपि अधिकांश प्रसिद्ध स्थानीय नेताओं के समर्थन से यह वंचित है, तो भी लाहौर में जिसका सम्मेलन पुनः होना निश्चित हुआ है। यह मानना भारी त्रुटि है कि यह विवाद व्यक्तिगत प्रश्नों और तुच्छ महत्त्व के भेदों के कारण हुआ। ऐसे सार्व-जनिक संघर्षों में जैसा अनिवार्यतः होता है, व्यक्तिगत प्रश्न और कम महत्त्व के भेदों ने आकर भ्रमित किया और संघर्ष में कटुता घोल दी। किन्तु विवाद के वास्तविक प्रश्न वे थे जिनमें इस देश में स्वशासन की भावना एवं उसके रूप के समस्त भावी विकास का समावेश था। वह भावना और रूप जनतंत्रीय होगा या कुलीनतंत्रीय ? वे प्रक्रिया में संवैधानिक होंगे या मनमाने व व्यक्तिगत पसन्द और निर्णय से शासित होंगे ? आंदोलन अपने उद्देश्यों, नीति और भावना में प्रगतिशील और राष्ट्रीय होना है या रूढ़िवादी और संकीर्ण ? ये थे वास्तविक प्रश्न। राष्ट्रवादी दल जनतंत्र, संवैधानिक और प्रगति के पक्ष में था। उदारवादी दल ने वृद्ध और सम्मानित नेताओं के प्रति अतिशय सम्मान-भावना से शासित होने के कारण, बिना स्पष्ट समझे हुए कि वे क्या कर रहे हैं, उनकी सहायता की जो कुलीनतंत्र, मनमानी प्रक्रिया और लगभग प्रतिक्रियावादी रूढ़िवाद के पक्ष में थे। वैयक्तिक सनकें, पसन्दें और घृणाएं घने बादल के समान संघर्ष पर छा गईं। दोनों ओर के व्यक्ति हर मतभेद की बात पर चाहे वह सारपूर्ण या निस्तार, बहाना या शस्त्र के रूप में अड़ गए। दलीय युद्ध के दांवपेचों का स्वच्छंदतापूर्वक प्रयोग हुआ। और अन्ततः, कुछ उदारदलीय नेताओं द्वारा मतभेद की बातों पर चर्चा को टालने की जानबूझकर की गई हठवादिता और दोनों पक्षों के नवयुवकों की अनियंत्रित गर्मी ने सूरत के हिंसापूर्ण दृश्य उपस्थित किए और कांग्रेस को तोड़ दिया। यदि प्रश्न को कभी भी राष्ट्रीय प्रगति के हित में निर्मित होना है तो वैयक्तिक और छोटे-छोटे भेदों को क्षेत्र से हटा देना होगा और वास्तविक प्रश्नों पर स्पष्टता से तथा आवेगहीनता के साथ विचार करना होगा।

विशेष महत्त्व के वे प्रश्न जो दोनों दलों को विभक्त कर रहे हैं, ये हैं—आदर्श के रूप में ग्राह्य स्वराज का ठीक रूप, निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति और

कुछ प्रस्तावों का रूप। अंतिम प्रश्न तो कांग्रेस द्वारा ही निश्चित होगा और राष्ट्रवादी यही मांग करते हैं कि विचार-विमर्श का गला न घोंटा जाए और उन्हें राष्ट्रीय सभा के सम्मुख अपने विचारों को प्रस्तुत करने के संवैधानिक अधिकार से वंचित न किया जाए। अन्य बातों पर, वे अपने आदर्श या अपनी नीति का बलिदान तो नहीं कर सकते, किन्तु उनका दावा यह है कि एक स्वतंत्र विचारात्मक सभा में ये मतभेद संयुक्त प्रगति के मार्ग में बाधक नहीं बनने चाहिए। स्वराज की बात तो स्वराज-प्रस्ताव में 'उपनिवेशों के समान स्वशासन' के स्थान पर 'पूर्ण और सम्पूर्ण स्वशासन' रख देने से हल हो सकती है। निष्क्रिय प्रतिरोध के विषय में मतभेद इस समय इस बात पर टिका हुआ है कि बहिष्कार-प्रस्ताव जिसे राष्ट्रवादी दल—और इसमें वे अनेक उदार पंथी मत वालों की एक बड़ी संख्या द्वारा समर्थित हैं—छोड़ने को तैयार नहीं हो सकता। किन्तु यहां भी वे स्वतंत्र रीति से निर्वाचित कांग्रेस के पंचमंडल को यह प्रश्न सौंपने को तैयार हैं, यद्यपि वे संकुचित और सीमित विषय-समिति को अंतिम सत्ता मानने से इनकार करते हैं। अतः यह समझा जाएगा कि वास्तविक प्रश्न आदि से अन्त तक वैधानिक है। उस संस्था ने, जो इस समय स्वयं को कांग्रेस कहती है, एक संविधान स्वीकार किया है जो संकुचित है, एकान्तिक है, ग़ैर-जनतांत्रिक है और इस तरह से निर्मित है कि जनता द्वारा प्रतिनिधियों के स्वतंत्र निर्वाचन को प्रतिबंधित कर देता है। प्रतिनिधि बनने के इच्छुक किसी भी व्यक्ति को अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व शब्दों के एक विशिष्ट रूप में निष्ठा के कुछ परिच्छेद लगाकर इसने स्वयं को सीमित कर लिया है। इसका उद्देश्य है लोगों के प्रत्यक्ष निर्वाचन के स्थान पर कुछ प्रवर समितियों और संस्थाओं के द्वारा प्रतिनिधियों का चुनाव कराना। यह अनेक लोगों को निर्वाचन से मुक्त कर देता है और सभा के कार्यों को चलाने में उन्हें अनुचित महत्त्व प्रदान करता है। इन्हें और ऐसी ही अन्य धाराओं को कोई भी जनतांत्रिक दल स्वीकार नहीं कर सकता। राष्ट्रवादी सम्मेलन या उदारदली सम्मेलन तो इस प्रकार अपनी एकता की सुरक्षा कर सकते हैं किन्तु कांग्रेस तो एक राष्ट्रीय सभा है और रहनी चाहिए जो जनता द्वारा ठीक प्रकार से निर्वाचित सब को स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश देगी। इस एक समूह द्वारा जो इसकी धाराओं द्वारा पहले से ही संकुचित है, इस प्रतिक्रियावादी संविधान को विचारानुसार पारित कर देना वैधानिक दृष्टि को दूर नहीं करेगा। पुरानी परिपाटी से चुनी हुई कांग्रेस ही अपने संविधान व कार्य-विधि के लिए भावी धाराओं को, सब की स्वीकृति मिलने की आशा से, निर्धारित कर सकती है।

अतः कांग्रेस या सम्मेलन के किसी छल-कपट से समस्या का समाधान नहीं निकल सकता अपितु यह संभव है प्रान्तीय सम्मेलनों द्वारा, जो दोनों दलों के नेताओं को अधिकार दें कि समिति में मिलें और ऐसी व्यवस्था करें जो मतभेदों

को दूर करेगी और कांग्रेस को भविष्य में निर्विघ्न और स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने में समर्थ बनाएगी। यदि कोई ऐसा अल्पमत है जो ऐसे किसी प्रयत्न में सम्मिलित होना स्वीकार न करे तो बहुमत द्वारा उनको अमान्य करना और लोकेच्छा को पूर्ण करने के लिए परस्पर मिलना अवश्य ही प्रान्तों के आदेश से न्यायसंगत होगा। एक बार रूपरेखाएं निश्चित हो जाएं तो उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित कांग्रेस की स्वतन्त्र पसन्द को प्रस्तुत किया जा सकता है—स्वीकृति, अस्वीकृति या रूपान्तरण के लिए। इससे कांग्रेस को उस ठोस वैधानिक रूपरेखा पर पुनः लाया जा सकताहै जिसमें अतीत के कटु अनुभव पर विश्वास किया जा सकता है जिससे हठवादिता और आवेग की वे त्रुटियां रोकी जा सकें जिन्होंने सूरत में समस्या के समाधान को रोका था।

कांग्रेस के अन्दर की अपेक्षा कांग्रेस के बाहर सम्मिलित कार्य करने की संभावनायें अधिक पूर्ण हैं। दो ही प्रश्न हैं जो सामंजस्य में विघ्न डाल सकते हैं या कार्य को उलझा सकते हैं। प्रथम तो है वर्तमान सुधारों की स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रश्न, उन सुधारों का जिन्होंने न तो जन-नियन्त्रण के किसी अंश को और न किसी नए वैधानिक सिद्धांत को प्रस्तुत किया है, अतिरिक्त इसके कि एक सम्प्रदाय के लिए रियायती प्रतिनिधित्व का अस्वस्थ सिद्धान्त। इसमें सहयोग का व्यापक प्रश्न आ जाता है। साधारणतया यह माना जाता है कि राष्ट्रवादी दल स्वराज्य की पूर्ण प्राप्ति से पहले सहयोग के सतत और अनम्य अस्वीकार के लिए वचनबद्ध है। राष्ट्रवादी पत्रकारों ने इस त्रुटि का स्पष्टतापूर्वक खण्डन करने की चिंता नहीं की है क्योंकि वे अपने आदर्श को स्वीकृत कराने और निष्क्रिय प्रतिरोध व पूर्ण आत्म-सहायता की भावना को लोकप्रचलित कराने को अधिक उत्सुक थे अपेक्षाकृत उस विषय पर चर्चा करने के जो तब व्यावहारिक राजनीति का प्रश्न नहीं था। किंतु यह स्पष्ट है कि ऐसी बात रखने वाला दल सिद्धान्तवादियों और आदर्शवादियों का ही दल होगा, व्यावहारिक विचारकों व कार्यकर्ताओं का नहीं। राष्ट्रवादी सिद्धान्त है "नियन्त्रण नहीं तो सहयोग नहीं।" चूकि सभी नियंत्रण से वंचित कर दिया गया है, और जब तक सभी नियन्त्रण से वंचित किया जाएगा, राष्ट्रवादी दल यथासंभव पूरे तौर से सहयोग की अस्वीकृति का प्रचार करेगा। किंतु यह स्पष्ट है कि यदि, उदाहरणार्थ संरक्षणात्मक चुंगी लगाने का अधिकार यदि लोकप्रिय और निर्वाचित निकाय को दे दिया जाय तो कोई भी विचारशील राजनीतिक दल वाणिज्यीय बहिष्कार में आग्रह को प्रदत्त अधिकारों के प्रयोग की अपेक्षा वरीयता नहीं देगा। अथवा यदि शिक्षा को इसी प्रकार सरकारी नियन्त्रण से नियुक्त कर दिया जाए और एक लोकप्रिय निकाय को सौंप दिया जाए, जैसा लार्ड रिए ने एक बार इसे सौंपने का विचार किया था, तो कोई भी समझदार राजनीतिज्ञ राष्ट्र से उस शिक्षा का बहिष्कार करने को नहीं कहेगा। अथवा यदि न्यायालयों को भार-

तीय न्यायाधीश चलाएं और न्यायालय कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी न होकर एक प्रतिनिधि मंत्री के प्रति उत्तरदायी हों, तो पंचायत तत्काल ही नियमित न्यायालयों के अतिरिक्त सहायक के रूप में हो जायेंगे। इसी प्रकार जनता को प्रभावी स्वर देना अस्वीकार करने वाले प्रशासन में सहयोग करने से इनकार करने का यह अर्थ नहीं है कि उस प्रशासन में भी सहयोग करने से इनकार किया जाए जिसमें जनता का प्रभावी भाग है। निरंकुशतापूर्ण उपहारों की अस्वीकृति का अर्थ जनता को मिले हुए अ-हरणीय सार्वजनिक अधिकारों को भी अस्वीकार किया जाए। इसके विपरीत, स्वराज के विभिन्न अंगों को प्रदान करने के लिए शांतिपूर्ण नैतिक दबाव से बाध्य करने के उद्देश्य से और ऐसे अनुदान के अभाव में हमारी अपनी संस्थाओं को विकसित करने के उद्देश्य से—जिससे नौकरशाही संस्थाओं का क्रमशः निष्कासन हो और अंततः उनके पैर उखाड़ दिये जाएं—आत्म-सहायता और निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति प्रारम्भ की गई थी। सार्वजनिक अधिकारों की इस स्वीकृति का अर्थ न तो पूर्ण स्वशासन के आदर्श का परित्याग और न जनाधिकारों में भावी मनमाने हस्तक्षेप होने पर निष्क्रिय प्रतिरोध के प्रयोग का परित्याग। इससे यही उपलक्षित होता है कि आंशिक स्वराज का पूर्ण स्वराज की ओर एक पग और माध्यम के रूप में प्रयोग। जहां पर राष्ट्रवादी लोग निश्चित रूप से और निर्णयात्मक रूप से उदारपंथियों के एक प्रभावी वर्ग से पृथक् हो जाते हैं, वह किसी ऐसी तुच्छ या भ्रमपूर्ण सुविधा को स्वीकार करने से इनकार करना जो हमारी आकांक्षाओं को उनके अपरिवर्तनीय आदर्श से दूर ले जाएगी या लोगों को इस विचार के भ्रम में डाल देगी कि उन्होंने यथार्थ अधिकार प्राप्त कर लिए हैं।

दूसरा प्रश्न है बहिष्कार से चिपके रहने और उसे लागू करने का। बंगाल में, यद्यपि कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इतने कायर या प्रतिक्रियावादी हैं कि इस शब्द या कार्य से कतराएं, तो भी सर्वसामान्य भावना इसके पक्ष में आग्रहपूर्ण और व्यावहारिकतया एकमत है। किन्तु अब वह समय है जब बहिष्कार को नियमित करने के प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया जाए। राष्ट्रवादियों ने सदैव ही स्वदेशी के प्रस्ताव में 'यथासंभव' शब्द पर आपत्ति की है क्योंकि इसकी अस्पष्टता ने संकोची व शिथिल लोगों के लिए बचाव का नया मार्ग छोड़ दिया है और इस रूप को उन्होंने 'त्यागपूर्वक' ही वरीयता दी है। किन्तु अच्छा होगा यदि हम बहिष्कार की प्रत्यक्ष समस्याओं का सामना करें। यद्यपि हमें वहां पूर्णतया इसे पालन करना चाहिए जहां स्वदेशी वस्तुएं उपलब्ध हैं और साथ ही निरी विलास-वस्तुओं के विषय में भी जिन्हें हम छोड़ सकते हैं, तो भी हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जीवन और व्यापार की ऐसी आवश्यकताएं हैं जिनके लिए हमें अभी भी विदेशों को जाना पड़ता है। जनता का मार्गदर्शन उन देशों के चुनाव के विषय में किया जाना चाहिए कि इन वस्तुओं की खरीदारी के लिए हम किन देशों का समर्थन करेंगे—

अवश्य ही वे भारतीय आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति रखने वाले देश होंगे—और किनका हम बहिष्कार करेंगे। इस प्रश्न से निपटने में असफलता ही हमारे राजनीतिक बहिष्कार कार्यक्रम की शिथिलता और परिणामस्वरूप विभाजन को रद्द कराने में हमारी असफलता के लिए अत्यधिक उत्तरदायी है। अन्य प्रश्न भी हैं जैसे दुकानदारों और व्यापारियों द्वारा विदेशी माल को स्वदेशी करके थोक में चलने देने का प्रयत्न जिसे तत्काल देखना चाहिए यदि आंदोलन को भारी धक्के से बचाना है।

एक अन्तिम कठिनाई रहती है—जब यह प्रश्न हल हो जाएं तब भी आंदोलन को किस संगठन द्वारा चलाया जाए ? राष्ट्रवादी दल का कार्यक्रम तो पुनर्गठित कांग्रेस के आधार पर एक महान विचारशील और कार्यकारी संगठन खड़ा करना था और यह योजना अभी भी देश को संगठित करने का एकमात्र उपयुक्त साधन है। यदि संगठित कांग्रेस न भी बन सके, तो भी प्रान्तों को स्वयं को पृथक्-पृथक् संगठित करना चाहिए और शायद यह कांग्रेस को वापस लाने का एक मात्र संभव मार्ग सिद्ध हो सके, नीचे से निर्माण के द्वारा। ज़िला-संगठन भी बिना कार्य-कर्ताओं के प्रभावी रूप से कार्य नहीं कर सकते और हमने इनकी व्यवस्था नवयुवकों की सभाओं और समितियों में की थी जो सर्वत्र प्रकट हो गई थीं और सम्पूर्ण बंगाल में दक्ष संगठन बनाने में सफल हो रही थीं। इस समय प्रशासकीय आदेश द्वारा उनका दमन कर दिया गया है। यह प्रश्न उठता है कि क्या हम उन्हें युवक समूहों के ऐसे मुक्त व पकड़ में न आने वाले संगठन द्वारा प्रतिस्थापित नहीं कर सकते जिनमें से प्रत्येक समूह अपना कार्य सर्वसहमति से और कन्धे से कन्धा मिलाकर करे, किन्तु बिना एक स्थिर या सुनिश्चित संगठन के। मैं इस सुझाव को उन प्रांतों के विचारक व कर्मठ नेताओं के सम्मुख रख रहा हूं जिनमें एकता संभव दिखाई देती है।

तो यह है परिस्थिति, जैसी मुझे लगती है। राष्ट्रवादी दल को जो नीति मैं सुझा रहा हूं उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१. आत्मसहायता तथा निष्क्रिय प्रतिरोध की शान्तिपूर्ण नीति पर कानून का पूर्ण आदर करते हुए, जमे रहना।
२. सरकार के प्रति अपनी वृत्ति को इस सिद्धान्त से नियन्त्रित रखना—"अधिकार नहीं तो सहयोग भी नहीं।"
३. उदार दल से पुनः मेल, जहां भी संभव हो, और संगठित कांग्रेस की पुनर्रचना।
४. बहिष्कार-आन्दोलन का नियंत्रण जिससे राजनीतिक व आर्थिक दोनों बहिष्कार ही प्रभावी हो सकें।
५. हमारे मूल कार्यक्रम के अनुसार, यदि सम्पूर्ण देश का न हो सके, तो प्रान्तों का ही संगठन।

६. सहयोग की ऐसी पद्धति जो कानून का उल्लंघन तो न करे किन्तु कार्यकर्ताओं को आत्म-सहायता और राष्ट्रीय दक्षता का कार्य लेकर चलने में सहायक हो, चाहे ठीक पहले के समान प्रभावी रूप में नहीं भी हो तो भी शक्ति और सफलता के साथ।"

श्री अरविन्द के इस खुले पत्र का प्रभाव सरकार पर भी पड़ा और क्रांतिकारिणी निवेदिता ने अपने गुप्त सूत्रों से श्री अरविन्द को यह जानकारी भी दी कि सरकार ने उन्हें निर्वासित करने का विचार इस समय तो स्थगित कर दिया है। श्री अरविन्द का तीर ठीक निशाने पर बैठा था।

२. अमृतवाणी

श्री अरविन्द ने उदारदलीय कांग्रेसियों को साथ बनाये रखने के लिए स्वयं अनेक प्रयास किये थे। एक विशेष उदाहरण उल्लेखनीय है। सितम्बर १९०९ की 'वंग प्रान्तीय परिषद्' (हुगली) में मिंटो-मार्ले-सुधारों के समर्थक उदारपंथियों के प्रस्ताव को विषय-समिति में नीचा देखना पड़ा और खुले अधिवेशन में उदारपंथी नेता कांग्रेस से अलग होने की स्थिति में आ गए थे क्योंकि उपस्थित प्रतिनिधियों का विशाल बहुमत राष्ट्रवादी होने के कारण उनके भाषण भी सुनना नहीं चाहता था, प्रस्ताव के समर्थन का तो प्रश्न ही नहीं था तब श्री अरविन्द ने स्वयं ही मंच पर पहुंचकर एकता बनाए रखने के लिए अपने दल के लोगों से या तो चुप बैठे रहने या पंडाल से चले जाने का अनुरोध किया था। और, अपने नेता के आदेश के अनुसार प्रतिनिधियों का एक बड़ा अंश चुपचाप बाहर चला गया था। तब उदार-दलीय नेताओं का प्रस्ताव भी पारित हो गया और उन्होंने भाषण भी दिए जिनमें यह रोना बराबर चलता रहा कि जनता श्री अरविन्द जैसे अनुभवहीन युवक नेता की बात सुनती और मानती है किंतु उनके जैसे अनुभवी और वयोवृद्ध नेताओं का न अनुगमन करती है, न उनकी बात सुनती है।

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बंगाल के उदारदलीय व्यक्तियों की एक व्यक्तिगत बैठक में श्री अरविन्द तथा कुछ अन्य प्रसिद्ध बंगाली राष्ट्रवादी नेताओं को बुला-कर यह प्रयत्न किया था कि बनारस में होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस में बंगाल संयुक्त रूप में भाग ले। किन्तु इसके पीछे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का उद्देश्य स्वयं संयुक्त बंगाल का नेता बनकर जाने का था जबकि श्री अरविन्द और उनके साथी समझौता इस रूप में करना चाहते थे कि कांग्रेस के संविधान में संशोधन हो ताकि स्वतन्त्रतापूर्वक चुने गए प्रतिनिधि चुन कर जाएं। श्री अरविन्द ने श्रीमती एनीबीसेण्ट के 'होमरूल आन्दोलन' पर भी दृष्टिपात किया किन्तु यहां तो ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वतन्त्र भारत की कल्पना उन्हें अधूरी लगी। 'निष्क्रिय प्रति-रोध' (अर्थात् भावी गांधी-सत्याग्रह की अपेक्षा अधिक तेजस्वी सत्याग्रह) के संघटक नेता के रूप में भी वे कार्य कर सकते थे किन्तु उन्होंने उस मार्ग को अपने लिए उपयुक्त नहीं माना और वे स्वयं राष्ट्रवादी दल के संगठन में ही जटे रहे तथा

राष्ट्रीयता का सन्देश जन-जन को देकर चेतना का नवसंचार करने में प्रयत्नशील रहे। उस समय उन्होंने स्थान-स्थान का दौरा भी किया था और अनेक भाषण भी दिए थे। उनके तत्कालीन भाषणों में से बीडन स्क्वायर (कलकत्ता) के भाषण के अतिरिक्त बारीसाल जिले में झालाकाटी की परिषद में, हावड़ा के 'पीपुल्स ऐसोसिएशन' में, कालिज स्क्वायर (कलकत्ता) में तथा कुमारतुली में दिए गए भाषण उपलब्ध हैं तथा प्रकाशित भी हुए हैं। इन भाषणों में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं।

बीडन स्क्वायर भाषण में श्री अरविन्द ने सरकारी दमन द्वारा जनता के उत्साह को और बढ़ने की आवश्यकता बताते हुए कहा था—"और फिर दमन है क्या ? कुछ लोग जेलों में डाल दिए गए, कुछ निर्वासित कर दिए गए, कुछ घरों की तलाशी ली गई, कुछ दबाने वाले कानून बनाये गए जो प्रेस और मंच की स्वतंत्रता कम कर दें। दूसरे राष्ट्रों ने स्वतन्त्रता के लिए जो मूल्य चुकाया है उसकी तुलना में तो यह कुछ भी नहीं है।"

श्री अरविन्द ने कहा था कि यह तो परमात्मा का कानून है कि अधःपतित राष्ट्र तब तक उन्नत न होने दिया जाए जब तक वह अनन्त कष्ट न उठा ले और अनन्त प्रयत्न न कर ले। यह कीमत तो पहले राष्ट्रीय कर्तव्यपालन में हुई चूकों के लिए चुकानी पड़ती है। श्री अरविन्द ने कहा था कि जनता का नैतिक बल नहीं टूटा है, यह और बात है कि कुछ धनी और कोमल लोग भले ही सम्मेलनों और परिषदों में भाग लेने या अपने विचार खुले रूप से प्रकट करने में संकोच करने लगे हों किन्तु राष्ट्र का मनोबल बढ़ा है। और इसकी पहचान सभा में आए लोगों की संख्या और होने वाली सभाओं की संख्या से नहीं अपितु लोगों के हृदयों की भावनाओं व निश्चय से ही की जा सकती है। अंग्रेज़ शासकों ने सदैव कहा था कि वे भारत को स्वशासन तब देंगे जब वह योग्य बन जायेगा। सरकार यह देख रही है कि यह आन्दोलन सचमुच शक्ति पर आधारित है या अस्थायी रूप का है। उन्होंने मिंटो-मार्ले-सुधारों की भी मीमांसा की थी और उनका खोखलापन तथा हानिकारक स्वरूप स्पष्ट किया था। उन्होंने सरकार के सूर्यास्त के पश्चात् किसी भी नागरिक पर सन्देह करने वाले 'सनसैट रेग्यूलेशन' की भी धज्जियां उड़ा दी थीं। उन्होंने कहा था कि सरकार प्रेस पर नियंत्रण कर भी ले तो क्या हुआ, भारत राष्ट्र में तो देश के एक कोने से दूसरे कोने तक समाचार को फैलाने की विद्युतवेगमयी शक्ति प्रेस व तार के आविष्कार से बहुत पहले से है। भारतीयों को केवल यह विश्वास रखना चाहिए कि स्वातंत्र्य-सूर्य उदित होने को ही है, प्रभात होकर रहेगा और प्रत्येक घड़ी उस ईश्वर-निर्णीत क्षण को समीप ही ला रही है।

बारीसाल ज़िले के झालाकाटी स्थान पर भाषण में उन्होंने कहा था कि बारीसाल में, जो श्री अश्विनीकुमार दत्त का जन्मस्थान तथा कर्मक्षेत्र है, आकर वे

राष्ट्रीय-भावना के पवित्र पीठस्थान पर पहुंचने की अनुभूति करते हैं। उन्होंने झालाकाटी में हुए सरकारी दमनचक्र का उल्लेख किया था, निर्वासित नेताओं की भावुकतापूर्वक चर्चा की थी। उन्होंने सरकार द्वारा लगाए गये आरोपों—अराजकता, हिंसा, विद्रोह, डकैती इत्यादि—के मिथ्यात्व की विस्तृत चर्चा करते हुए कहा था कि यह सोचना मूर्खता है कि परमात्मा की आवाज़ पर जाग्रत कोई राष्ट्र दमन से फिर सुलाया जा सकता है। भारत माता का भव्य मन्दिर बनाते समय आये इस भयंकर तूफान के रूप में स्वयं परमात्मा ही देशभक्तों की परीक्षा ले रहा है। किन्तु परमात्मा ने दमन क्यों किया है ?" दमन कुछ नहीं है, केवल परमात्मा का हथौड़ा है जो हमें विशिष्ट रूप में ढाल रहा है जिससे हम एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में ढल जाएं और विश्व में उसके कार्य के लिए माध्यम बन जायें। हम उसकी निहाई पर लोहा हैं और चोटें हमें नष्ट करने के लिए नहीं पुर्ननिमित करने के लिए पड़ रही हैं। बिना कष्ट उठाये तो विकास हो ही नहीं सकता।" श्री अरविन्द ने आगे कहा था कि परमात्मा ने यदि अश्विनीकुमार दत्त, कृष्णकुमार मित्र या लोकमान्य तिलक को जनता के बीच से हटाकर दूर ले जाकर रख दिया है तो यह सब परमात्मा की योजना में सार्थक है, व्यर्थ नहीं है—"भगवान ही, कोई और नहीं, उन्हें उठाकर ले गया है और उसकी विधियां मनुष्यों की विधियां नहीं हैं, क्योंकि वह सर्व-बुद्धिमान है। वह हम से अधिक अच्छी तरह जानता है कि हमारी आवश्यकता क्या है। उसने अश्विनीकुमार दत्त को वारीसाल से हटा लिया है। क्या आन्दोलन मर गया है ? क्या स्वदेशी मृत है ? देश के शासकों ने अपनी अल्पबुद्धि से सोचा है कि सिरों की काट-छांट से आन्दोलन समाप्त हो जाएगा। वे नहीं जानते कि महान् होने पर भी अश्विनीकुमार दत्त इस आन्दोलन के नेता नहीं हैं, तिलक नेता नहीं हैं, परमात्मा ही नेता है। वे नहीं जानते कि वह तूफान जो देश पर छाया हुआ है उनके द्वारा नहीं भेजा गया था, अपितु भगवान द्वारा और भगवान के अपने महान उद्देश्य से। और वही शक्ति जो आज तूफ़ानों में और विपत्ति के उस तूफ़ान में जो देश पर से निकला है प्रकट हुई है, वही शक्ति हममें भी है।"

श्री अरविन्द ने इसके पश्चात् भारत राष्ट्र में व्याप्त इस आध्यात्मिक शक्ति का उल्लेख अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में किया था—"और यदि वे हमें पीड़ित करने में सशक्त हैं, तो हम सहन करने में सशक्त हैं। हम साधारण जाति नहीं हैं। हम इतनी प्राचीन जाति हैं जितनी प्राचीन हमारी पहाड़ियां और नदियां हैं और हमारे पीछे उनसे कई गुनी महानता का वह इतिहास है जिससे बढ़कर इतिहास किसी जाति का नहीं है। हम उनके वंशज हैं जिन्होंने तपस्या की थी और आध्यात्मिक लाभ के लिए अश्रुत तप किए थे और स्वेच्छा से मानव को संभव सभी कष्टों को स्वीकार किया था। हम उन माताओं की सन्तान हैं जो जलती चिता पर हँसते हुए इसलिए चढ़ गईं कि परलोक में अपने पतियों का अनुगमन कर सकें। हम ऐसे

लोग हैं जो पीड़ा का स्वागत करते हैं और जिनके हृदय में आध्यात्मिक शक्ति है, जो किसी भी भौतिक बल से अधिक बड़ी है। हम ऐसी जाति हैं जिसमें भगवान् ने हमारे इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण क्षणों में दूसरी किसी भी जाति की अपेक्षा अधिक प्रकट किया है। चूंकि परमात्मा ने स्वयं को प्रकट करने का निश्चय किया है और अपने लोगों के हृदयों में प्रवेश कर लिया है, इसीलिए हम राष्ट्र के रूप में उठ रहे हैं। अतः कोई अन्तर नहीं पड़ता यदि हम में से जो महानतम और प्रियतम हैं, दूर ले जाये जायें। मैं परमात्मा की कृपा में विश्वास रखता हूं और विश्वास करता हूं कि वे शीघ्र ही हमें वापस मिल जायेंगे। किंतु यदि वे पुनः वापस न भी आयें तो भी आन्दोलन वन्द नहीं होगा। यह अबाध रूप से आगे बढ़ता ही जाएगा जब तक इसमें परमात्मा की इच्छा पूर्ण न हो जाए।"

श्री अरविन्द ने स्वराज और उसकी प्राप्ति के साधनों की चर्चा भी कुछ विस्तार से की थी और शासन को सम्बोधित करते हुए कहा था—"हमारे देश के शासन में हमारी कोई आवाज़ नहीं है और कानून तथा उनके प्रशासन में तुम हमें ध्यान देने नहीं देते। किन्तु हमारे अधिकार में एक चीज है; हमारा साहस और भक्ति हमारे अधिकार में है; हमारा वलिदान, हमारी पीड़ायें तो हमारे अधिकार में हैं जिन्हें तुम हम से नहीं छीन सकते और जब तक तुम उन्हें नहीं छीन सकते, तुम कुछ नहीं कर सकते। तुम्हारा दमन चिरकाल तक नहीं चल सकता क्योंकि उससे देश में अराजकता आ जाएगी। यदि यह दमन स्थायी रूप ले लेता है तो तुम अपना प्रशासन नहीं चला पाओगे। तुम्हारी सरकार विघटित हो जाएगी···।"

हावड़ा के 'पीपुल्स ऐसोसिएशन' में बोलते हुए उन्होंने 'संस्था बनाने का अधिकार' विषय पर लम्बा वक्तव्य दिया था। उन्होंने मानवता के विकास के बड़े उपादानों के रूप में स्वतन्त्रता, समानता और बंधुत्व की व्याख्या की थी। श्री अरविंद ने बताया था कि प्राचीन भारत में अनेक प्रकार की संस्थायें थीं क्योंकि जीवन जटिल था। राजनीतिक, व्यावसायिक, शैक्षणिक, धार्मिक संस्थायें थीं। ग्राम-जीवन में भी, नगर-जीवन में भी साहचर्य सुविकसित था। कालान्तर में इस जीवन में विकृतियां आ गईं और पश्चिम के सम्पर्क के परिणामस्वरूप पुनः संस्थाओं की धारणा बलवती हुई। पहले स्वयंसेवक-संस्थाओं के रूप में, बाद में व्यायाम आदि के अखाड़ों के रूप में और अन्त में रामकृष्ण मिशन आदि के रूप में बंधुत्व-प्रचारार्थ संस्थाओं की स्थापना हुई। किन्तु सरकार ने अब इनका दमन कर दिया है और यह आरोप लगाया है कि ये संस्थायें घृणा, हिंसा, डकैती आदि से संबंधित थीं। श्री अरविन्द ने सरकार के इन आरोपों का खण्डन करते हुए 'स्वदेश-बांधव समिति' की विस्तार में चर्चा करते हुए उसके द्वारा निर्धनों की, रोगियों की सेवा इत्यादि पर प्रकाश डाला था तथा परिस्थिति की मीमांसा करते हुए राष्ट्रभक्ति का ओजस्वी संदेश दिया था—"देशभक्ति के अपराध के लिए हमें कोई भी दण्ड

दिया जाए, राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने में हमें किसी भी खतरे का सामना करना पड़े, तो भी हमें आगे ही बढ़ना चाहिए, देश का कार्य करना ही चाहिए।"

श्री अरविन्द ने संस्था का अर्थ बताते हुए कहा था—"तो फिर संस्था क्या है ? संस्था ऐसी चीज़ नहीं है जो अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और मन्त्री के बिना रह ही न सकती हो। संस्था ऐसी चीज़ नहीं है जो मिल ही न सकती हो, जब तक मिलने का निश्चित स्थान न हो। संस्था एक चीज़ है जो हमारे अन्दर की भावना और शक्ति पर निर्भर है। संस्था का अर्थ है एकता, संस्था का अर्थ है बंधुत्व, संस्था का अर्थ है एक सर्वनिष्ठ कार्य में एकत्रित बांध लेना। जहां जीवन है, जहां आत्मत्याग है, जहां निःस्वार्थ और निर्हेतुक श्रम है, जहां हमारे अन्दर चीजें हैं, वहां कार्य रुक ही नहीं सकता। यह नहीं रुक सकता यदि एक भी मनुष्य हो जो हर खतरे में भी इसे आगे बढ़ाने को तैयार हो। अंततः यह कार्य करने का प्रश्न है, कार्य के माध्यम का प्रश्न नहीं है। यह तो केवल मिल-जुलकर किसी एक या दूसरे प्रकार से काम करने का प्रश्न है।" उन्होंने प्रत्येक अगले दिन के लिए कार्य निश्चित करके, समय निश्चित करके, चलने का भी सुझाव दिया था। उन्होंने सम्पूर्ण भारत की एक संस्था, एक संगठन, एक संघ बनाने की बात कही थी। यह संस्था अर्थात् एक राष्ट्र बनाने की बात उन्होंने यूरोपीय ढंग से स्वार्थों के आधार पर संगठन करने से भिन्न बताते हुए अपनी मातृभूमि के पुत्र होने के नाते बंधुत्व के आधार पर संगठन करने की कही थी। इस आदर्श को उन्होंने ईश्वरीय वाणी के रूप में बताते हुए कहा था कि यह भावना हमारे अन्दर के ईश्वर को जगा देती है और कहती है—"तुम सब एक हो, तुम सब भाई हो। एक स्थान है जिसमें तुम सब मिल जाते हो और वह है तुम सब की एक ही माता। वह केवल मिट्टी नहीं है। वह माता है जिसमें तुम गतिशील और अस्तित्वशील हो। परमात्मा को राष्ट्र में देखो, परमात्मा को अपने भाई में देखो, परमात्मा को विस्तृत मानव समाज में देखो।"

अन्त में श्री अरविन्द ने कहा था—"हम इसी संघ को बना रहे हैं, बंगाल के समाज और भारत के सम्पूर्ण समाज का महान् संघ। यह मार्ग की बाधाओं को चीर कर बढ़ रहा है और सदैव बढ़ेगा। जब अश्विनीकुमार दत्त की भावना जाति और राष्ट्र के प्रत्येक नेता में आ जाएगी और राष्ट्र एक महान् 'स्वदेश बांधव समिति' बन जाएगा, तभी यह परिपूर्ण हो जायेगा। यह हमारा सनातन राष्ट्रीय आदर्श है और इसकी शक्ति से हमारा राष्ट्र जागेगा चाहे वे कोई भी कानून बनाएं। हमारा राष्ट्र अपनी सत्ता के कानून की शक्ति से उठेगा और जियेगा क्योंकि परमात्मा द्वारा भारत राष्ट्र को यह आदेश दिया जा चुका है—'संगठित बनो, स्वतन्त्र बनो, एक बनो, महान् बनो।'"

कालिज स्क्वायर के भाषण में श्री अरविन्द ने गोपालकृष्ण गोखले के इस

वक्तव्य का खण्डन किया था कि स्वतन्त्रता का आदर्श किसी समझदार मनुष्य का आदर्श नहीं हो सकता और इसका भी कि शान्तिपूर्ण उपायों से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की जा सकती और जो लोग निष्क्रिय प्रतिरोध आदि के शांतिपूर्ण साधनों की बात करते हैं, वे कायर हैं और हृदय की हिंसापूर्ण बात स्पष्ट रूप से कह नहीं पाते। यह भाषण भी अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण था और राष्ट्रवादी चिन्तन को बल देने वाला था।

कुमारतुली के भाषण में श्री अरविन्द का भाषण हास्य-विनोद-व्यंग से समृद्ध था और सरकार पर करारे व्यंगों के कारण श्रोताओं को विशेष आनन्द आ गया था। आने वाली सात अगस्त को 'बहिष्कार' की वर्षगांठ होने की बात श्री अरविन्द ने कही थी। उन्होंने कहा था कि मातृभूमि के प्रति उसकी सन्तानों को कृतज्ञतापूर्वक स्वयं को समर्पित करना चाहिए क्योंकि मातृभूमि के प्रति विश्वासघाती होने का अर्थ है "अपने प्रति, अपनी प्रतिज्ञाओं के प्रति, अपने देश के भविष्य के प्रति, भगवान के प्रति और अपनी माता के प्रति" विश्वासघाती होना।

श्री अरविन्द की ऐसी अमृतवाणी का इष्ट परिणाम होना स्वाभाविक ही था। समाज में से निराशा दूर होने लगी और कर्म की चेतना पुनः संचारित होने लगी।

३. पांडीचेरी में उत्तर-योगी

राष्ट्र-चेतना को जाग्रत करने के लिए श्री अरविन्द के प्रयत्नों का सर्वत्र स्वागत ही नहीं हो रहा था। उदारदलीय लोगों को, जो अंग्रेज़ी शासकों की दृष्टि में भले बने रहना चाहते थे, श्री अरविन्द तनिक भी पसन्द न थे। उन पर व्यंग-वर्षा करते रहने वाले कलकत्ता के 'बंगाली' तथा बम्बई के 'इंडियन सोशल रिफ़ार्मर' नामक पत्रों ने उनके उत्तरपाड़ा-भाषण का भी उपहास किया था—भगवान् का दर्शन ? भगवान् बोलेगा ? और वह भी एक बन्दी से ? असंभव ! किन्तु श्री अरविन्द ने 'कर्मयोगी' पत्र में तर्कयुक्त उत्तर देते हुए उन पत्रों को निरुत्तर कर दिया था। एक नेता द्वारा 'अधीर आदर्शवादी' होने का आरोप लगाए जाने पर श्री अरविन्द ने 'कर्मयोगी' में लिखा था—"केवल वर्तमान पर दृष्टि रखने वाले राजनीतिज्ञों ने सदैव ही भविष्य पर दृष्टि रखकर काम करने वालों को आदर्शवाद का उलाहना दिया है। और अधीरता का उलाहना भी उतनी ही सुगमता व तत्परता से उनके विरुद्ध लगाया जाता है जो महान व नाज़ुक क्षणों में भविष्य के आधार या ढांचे को शीघ्रता से बनाने की शक्ति और निपुणता रखते हैं।" उन्होंने यह भी लिखा था कि 'आदर्श' कोई व्यर्थ की वस्तु नहीं है—"आदर्श कोई संयोग नहीं हैं। वे तो लम्बे तप और अनेक जीवनों सा फल हैं। उनके घनत्व के अनुपात में ही मानव जीवन महान् बन जाता है।"

श्री अरविन्द इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में एक सक्रिय शक्ति के रूप में कार्यशील थे और उनकी व्यक्तिगत साधना भी चल रही थी। तभी एक दिन एक विशेष घटना ने श्री अरविन्द के जीवन-प्रवाह को एक अन्य दिशा में मोड़ दिया।

हुआ यह कि फरवरी १९१० में एक रात्रि को जब श्री अरविन्द 'कर्मयोगी' कार्यालय में बैठे हुए आत्माओं द्वारा स्वतः चालित लेखन के प्रयोग में कुछ लोगों के साथ व्यस्त थे, उन्हें उनके एक सहयोगी श्री रामचन्द्र मजुमदार ने आकर यह सूचना दी कि विश्वस्त सूत्रों के अनुसार, सरकार ने उन्हें बन्दी बनाने का निर्णय ले लिया है और पुलिस शीघ्र ही कार्यालय की तलाशी लेगी तथा उन्हें बन्दी बना लेगी। जब परिस्थिति का सामना करने की बात अनेक प्रकार से सोची जा रही थी, श्री अरविन्द ने अचानक कहा कि उन्हें ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ है कि

फ्रांसीसी भारतस्थित चन्द्रनगर चले जाएं। श्री अरविन्द ने भगवत्प्रेरणा से कार्य करने का जो निश्चय कर रखा था उसके अनुसार वे १० मिनट में ही गंगा-तट पर पहुंच गए। उनके साथी लोगों ने सरकारी जासूसों की चिन्ता करते हुए उनके पीछे-पीछे बिखरे रूप में साथ दिया। श्री अरविन्द उस चांदनी रात्रि में नौका-विहार से परले पार चन्द्रनगर में प्रातः होने से पूर्व ही सुरक्षित पहुंच गए। उनके साथ दो लोग थे—वीरेन्द्र घोष तथा 'मणि' अर्थात् श्री सुरेश चक्रवर्ती। उन्होंने चन्द्रनगर पहुंचकर यह खोज की कि श्री अरविन्द को आश्रय देने वाला कोई विश्वसनीय व्यक्ति मिले। एक मिले श्री चारुचन्द्र राय जिन्होंने भय के कारण स्वीकार नहीं किया। बाद में श्री मोतीलाल राय मिले जो श्री अरविन्द को सादर लिवाकर अपने घर ले गए।

यहां पर यह उल्लेखनीय है कि श्री अरविन्द ने चलते समय शीघ्रता से लिखकर एक पत्र भगिनी निवेदिता को भिजवा दिया था जिसमें स्वयं गुप्त रूप से रहने जाने की सूचना भी थी और 'कर्मयोगी' का दायित्व संभाल लेने के लिए उनसे अनुरोध भी। भगिनी निवेदिता के एक जीवनीकार श्री राणाप्रताप सिंह ने इस विषय पर महत्त्वपूर्ण पंक्तियां लिखी हैं जो द्रष्टव्य हैं—

"२४ जनवरी १९१० को न्यायालय की सीमा में पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ड की दिन-दहाड़े हत्या ने खलबली मचा दी। 'कर्मयोगी' ने इसी के कारण सरकार को चेतावनी भरे शब्दों में लिखा कि उसे अनुभव करना चाहिए कि उसका दमन क्रांति को दवा न सकेगा। भगिनी को विश्वास हो गया कि अब वचना संभव नहीं है। यदि अरविन्द पकड़े गए तो? एक सिंह-गर्जना दब जाएगी। अतः उन्होंने पुनः उनसे बाहर चले जाने का आग्रह किया। अरविन्द की चिन्ता का विषय कुछ और ही था। कर्मयोगी का क्या होगा? कौन उनका सही प्रतिनिधित्व कर सकेगा?··· कौन उसका संचालन कर सकेगा?···एक दिन वह घड़ी भी आ पहुंची। व्यवस्था पूर्ण होते ही उन्होंने कलकत्ता त्याग दिया तथा निवेदिता को एक पत्र द्वारा निर्देश दे गए कि भविष्य में 'कर्मयोगी' व 'धर्म' का दायित्व उनके ऊपर रहेगा। विभिन्न लेखकों ने इस घटना को भिन्न-भिन्न ढंग से चित्रित किया है। परन्तु अब सभी से यह बात स्पष्ट होती है कि उनकी गिरफ्तारी की आशंका का समाचार पाने पर अरविन्द को देशान्तर-गमन करने के लिए तैयार करने तथा यात्रा का प्रबन्ध करने में यदि किसी जीवधारी का सबसे अधिक हाथ था तो वह स्वामी जी की मानस-कन्या निवेदिता का था। यह सत्य है कि जाते-जाते दोनों की भेंट न हो सकी थी। अतः १४ फरवरी १९१० को सरस्वती-पूजा होते हुए भी भगिनी अपराह्न में चन्द्रनगर उनसे मिलने के लिए गईं। २८ फरवरी को वे पुनः गईं। यदि वे उनकी सबसे विश्वासपात्र न होतीं तो यह सब उनसे गुप्त रखा जाता।"

श्री अरविन्द ने पांडीचेरी में यही कहा था कि चन्द्रनगर जाना ईश्वरीय आदेश

के अनुसार हुआ, भगिनी निवेदिता की सलाह से नहीं। हम भी वैसा ही स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु फिर भी भगिनी निवेदिता द्वारा उनसे चन्द्रनगर में की गई भेंटों तथा 'कर्मयोगी' पत्र के दायित्व-निर्वाह से भगिनी निवेदिता व उनकी घनिष्ठता भी स्पष्ट है। भगिनी निवेदिता ने 'कर्मयोगी' को भली प्रकार चलाया जब तक वह बन्द नहीं कर दिया गया। भगिनी निवेदिता द्वारा लिखित १२ मार्च के दो लेखों—'विचार के कानून' (दी लाज़ आफ़ थाट) तथा 'राष्ट्रवादी की नित्य आकांक्षा' (ए डेली ऐस्पिरेशन फ़ार दि नेशनलिस्ट) की चर्चा यहां समीचीन है। प्रथम लेख में भगिनी निवेदिता ने लिखा था कि विचार ने ही विश्व की रचना की है। और इस बात को विस्तार में उन्होंने समझाया था। उन्होंने आगे कहा था कि यदि प्रत्येक संध्या को संपूर्ण भारत केवल दस मिनट इस विचार में लगा सके कि 'हम एक हैं', और हमारे मतभेद माया हैं, मिथ्या हैं, तो अपरिमित राष्ट्रीय शक्ति निर्मित होगी। आगे उन्होंने लिखा था कि आज भारत में शिक्षा के अभाव की जो कुदशा देखने को मिलती है और भारत कुलियों का राष्ट्र होता जा रहा है, इसके लिए किसी और पर निर्भर न होकर हमें स्वयं पर निर्भर होना पड़ेगा—"हम अपनी बौद्धिक पैतृक सम्पत्ति को प्राप्त कर लें और अधिगत कर लें, तब तक कौन बलिदान करेगा, श्रम करेगा, निर्माण करेगा और संघर्ष करेगा? हम, हम और सदैव हम।···हमें ज्ञान चाहिए, हर मूल्य पर हमें शिक्षित व्यक्ति होना चाहिए। राष्ट्र के रूप में हमें विश्व-संस्कृति का नेतृत्व करना चाहिए। उन दिनों में जब संस्कृति शास्त्रीय थी, साहित्यिक थी और मनोवैज्ञानिक या गणितीय थी, हमने नेतृत्व किया। अब जब यह वैज्ञानिक है, जिसके पार्श्व-पक्ष यांत्रिक प्रयोग के हैं, तो हमें इसका पुनः नेतृत्व करना चाहिए।···सम्पूर्ण विश्व-इतिहास बताता है कि भारतीय मेधा किसी से द्वितीय नहीं है। दूसरों की शक्ति से परे के कार्य को कर डालने के द्वारा तथा विश्व की बौद्धिक प्रगति में सर्वप्रथम स्थान लेने के द्वारा इसे सिद्ध कर देना चाहिए। क्या हममें कोई आन्तरिक दुर्बलता है जो हमें ऐसा करना असंभव कर देगा? क्या भास्कराचार्य और शंकराचार्य के देशवासी न्यूटन और डार्विन के देशवासियों से निकृष्ट हैं? हम ऐसा विश्वास नहीं करते। यह हमारा काम है कि विचार-शक्ति से स्वयं से कराने वाले विरोध की लोह-दीवारों को तोड़ डालें और विश्व की बौद्धिक प्रभुता को हस्तगत करें और उसका रस लें।"

दूसरा लेख 'राष्ट्रवादी की प्रतिदिन की आकांक्षा' जो ११-१२ पंक्तियों का ही था, अपनी हृदयस्पर्शी सामग्री के कारण बार-बार पठितव्य है—

"मैं विश्वास करता हूं कि भारतवर्ष एक है, अखण्ड है, अविभाज्य है। साझी मातृभूमि, साझे हित और साझे प्रेम पर ही राष्ट्रीय एकता का गठन होता है।

मेरा विश्वास है कि वह शक्ति जो वेदों और उपनिषदों में व्यक्त हुई, धर्मों व साम्राज्यों के निर्माण में व्यक्त हुई, विद्वानों के ज्ञान में और संतों से ध्यान में

व्यक्त हुई, हमारे मध्य पुनः जन्मी है और आज उसका नाम राष्ट्रीयता है।

मैं विश्वास करता हूं कि भारत के वर्तमान की गहरी जड़ें भारत के अतीत में हैं तथा उज्ज्वल भविष्य उसके सम्मुख चमक रहा है।

ओ राष्ट्रीयता ! सुख अथवा दुःख, सम्मान अथवा कलंक, किसी भी रूप में मेरे पास आ। मुझे अपने से एकरूप कर ले।"

भगिनी निवेदिता की भावना और अभिव्यक्ति श्री अरविन्द की भावना व अभिव्यक्ति से कितने एकरूप थे, यह देखकर आश्चर्य होता है।

चन्द्रनगर में श्री अरविन्द के आतिथेय श्री मोतीलाल राय ने श्री अरविन्द को एक रात्रि अपने एक मित्र के घर, दो दिन अपने घर तथा शेष साढ़े पांच सप्ताह तक एक अधिक सुरक्षित स्थान पर अत्यन्त सम्मानपूर्वक रखा। चन्द्रनगर में रहते हुए श्रीं अरविन्द को अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए सुअवसर मिला। उन्होंने इसी अवसर पर इडा, भारती, मही और सरस्वती नामक चार देवियों का का ध्यान में साक्षात्कार किया था। वस्तुतः इन देवियों के ये वैदिक नाम भी उन्हें ज्ञात न थे क्योंकि उन्होंने तब तक वेद का अध्ययन नहीं किया था और कालान्तर में वेदाध्ययन करने पर ही वे इस साक्षात्कार को स्वरूपतः समझ पाए थे।

उस समय बंगाल में श्री अरविन्द को न पाकर अंग्रेज़ सरकार अवाक् रह गई थी और मिंटो व मार्ले (क्रमशः भारत का वायसराय तथा भारत-राज्य-सचिव) के मध्य श्री अरविन्द के विषय में जो ऊहापोह चल रही थी, उस पर तुषारपात हुआ था। सरकार ने यह समझा कि श्री अरविन्द ने अन्य स्वातंत्र्य-सेनानियों के समान ही फ्रांस को प्रस्थान किया होगा। राजद्रोह के अपराध में एक लेख पर 'कर्मयोगी' के मुद्रक को ही फांस लिया गया किन्तु बाद में उच्च न्यायालय ने उसे निर्दोष घोषित कर दिया। वस्तुतः श्री अरविन्द को उनके कई मित्रों ने फ्रांस जाने का परामर्श दिया भी था किन्तु तभी एक दिन ईश्वरीय आदेश से उन्होंने फ्रांसीसी भारतस्थित दूसरी बस्ती पांडीचेरी जाने का निर्णय ले लिया।

जिस समय श्री अरविन्द चन्द्रनगर में थे तब पुलिस ने धूर्तता से अनेक गुमनाम पत्रों को श्री अरविन्द के कलकत्ता के पत्ते पर भेजकर उन्हें प्रकट होने के लिए तथा अभियोग का सामना करने के लिए कहा। श्री अरविन्द ने तत्काल घोषित करा दिया कि वे भय के कारण नहीं भागे हैं और न उनके विरुद्ध अभियोग है, और न वारंट। हां, यदि वारंट हो तो वे प्रकट हो सकते हैं। इस पर सरकार ने एक वारंट भी जारी कर दिया किन्तु श्री अरविन्द पकड़ में आने वाले नहीं थे। वे पांडीचेरी चल पड़े।

श्री अरविन्द की गुप्ततापूर्ण पांडीचेरी यात्रा में श्री मोतीलाल राय, श्री अमरचन्द्र चटर्जी, श्री नगेन्द्र कुमार गुहाराय, श्री सुकुमार मित्तर इत्यादि का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। श्री अरविन्द ने कलकत्ता से 'डूप्ले' नामक जहाज़ द्वारा पांडीचेरी के

लिए यात्रा १ अप्रैल १९१० के प्रभात में की थी। उन्होंने अपना कल्पित नाम रखा था — 'ज्योतीन्द्रनाथ मित्तर'। और उनके साथ में श्री विजय नाग ने अपना नाम रखा था 'बंकिमचन्द्र वसाक'। ४ अप्रैल १९१० को जहाज़ पांडीचेरी पहुंच गया था। वहां श्री सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती अर्थात् 'मणि' पहले से व्यवस्था के लिए पहुंचे हुए थे। वहां के क्रांतिकारी लोग मणि के कहने पर भी यह विश्वास करने को तैयार नहीं थे कि श्री अरविन्द पांडीचेरी आ रहे हैं। स्वयं मणि को ही जासूस समझा जाता रहा। फिर भी ४ अप्रैल को जहाज़ प्रातः ४ बजे पांडीचेरी पहुंचा तो श्री सुब्रह्मण्यम भारती तथा श्री श्रीनिवासाचारी के साथ मणि महोदय भी स्वागतार्थ उपस्थित थे।

श्री अरविन्द ने भारत को क्यों छोड़ा ? इस विषय पर लेखकों में मतभेद रहा है। निराशा या भय के कारण भारत छोड़ने की बात ऐसी परिस्थितियों में सरलता से समझ में आने वाली होने पर भी श्री अरविन्द जैसे आध्यात्मिक तथा साहसी पुरुष के विषय में जंचती नहीं और फिर श्री अरविन्द का यह कथन भी ध्यान में रखने योग्य है—"मैं यह कह सकता हूं कि मैंने राजनीति इसलिए नहीं छोड़ी कि मैं अनुभव कर रहा था कि मैं अब और कुछ नहीं कर पाऊंगा। ऐसा विचार तो मुझसे बहुत दूर था। मैं यहां इसलिए आया कि मैं अपने योग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं चाहता था। मुझे इस विषय में सुस्पष्ट 'आदेश' मिला था। मैंने राजनीति से अपना सम्बन्ध पूर्णतया तोड़ लिया है किन्तु ऐसा करने से पूर्व मुझे भीतर से यह पता लग गया था कि मैंने जो कार्य वहां प्रारम्भ किया था, उसे अवश्य ही मेरी निर्दिष्ट पद्धति पर अन्य लोग आगे बढ़ाएंगे और यह भी जान लिया था कि मैंने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया है वह बिना मेरी व्यक्तिगत सक्रियता या उपस्थिति के भी पूर्ण होकर रहेगा। मेरे द्वारा राजनीति से हटने के पीछे न तो रत्ती-भर भी निराशा की भावना थी और न विफलता का भाव।"

श्री मोतीलाल राय ने श्री अरविन्द की शिष्यता ग्रहण की थी और 'प्रवर्तक संघ' नामक उनके द्वारा प्रवर्तित संस्था में अभी भी श्री अरविन्द श्रद्धेय हैं यद्यपि बाद में गुरु-शिष्य में गंभीर मतभेद हो गए थे। प्रवर्त्तक संघ द्वारा प्रकाशित श्री अरविन्द द्वारा श्री मोतीलाल राय को लिखे अनेक गुप्त पत्रों के संकलन 'लाइट टू सुपर लाइट' से श्री अरविन्द के पांडीचेरी-जीवन के सम्बन्ध में जो प्रकाश मिलता है, उससे यह ज्ञात होता है कि श्री अरविन्द पांडीचेरी में रहते हुए भी भारतीय क्रांतिकारी गतिविधियों से वर्षों तक सम्बद्ध रहे थे। संभवतः उनका उद्देश्य भी कुछ समय तक पांडीचेरी में रहकर उपयुक्त अवसर पर भारत वापस आ जाना था, अतः यह कहना या समझना मिथ्या है कि उन्होंने राजनीति त्याग दी थी, जैसा ऊपर से दिखाई पड़ता है और जैसा दिखाने की श्री अरविन्द ने बुद्धिमत्तापूर्ण व सफल चेष्टा की थी। तो भी, वे भारत वापस आकर प्रत्यक्ष राजनीति में भाग लेने

के स्थान पर आध्यात्मिक साधना के कार्य में अधिकाधिक व्यस्त होते चले गए, आज तो यही कहा जा सकता है।

श्री अरविन्द के जीवनीकार श्री पुराणी ने भी यही लिखा है—"श्री अरविन्द का विचार साधना में कुछ स्थिरता आ जाने पर कार्यक्षेत्र में लौटने का था। ३०-३-१९२४ की दैनन्दिनी में यह लिखा हुआ है : "जब श्री अरविन्द पांडीचेरी आए तो कल्पना यह थी कि साधना में लगभग छह मास लगेंगे जिसके उपरान्त जितने लोग भी यहां थे वापस चले जाएंगे और कार्य का पुनः आरम्भ करेंगे। तब एक वर्ष व्यतीत हो गया और फिर भी श्री अरविन्द वापस नहीं गए। तब चार वर्षों की अवधि को सीमा बना दिया गया। उसी मध्य, प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ हो गया।" यह तो पता नहीं चलता कि यह किसकी दैनंदिनी है किन्तु यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि श्री अरविन्द पांडीचेरी में बसने के उद्देश्य से नहीं गए थे, घटनावशात् बसना पड़ गया।"

४ अप्रैल १९१० से ५ दिसम्बर १९५० तक उनकी पार्थिव लोक-यात्रा की नगरी पांडीचेरी ही रही। अतः उनके जीवन का चालीस वर्षीय पांडीचेरी-युग वस्तुतः वह महत्त्वपूर्ण काल है जिसने उन्हें राष्ट्र ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के लिए महत्त्वपूर्ण बना दिया। पांडीचेरी उस समय मात्र एक मृत नगर था, श्री अरविन्द ने कैसे उसे दिव्य जीवन प्रदान किया, कैसे उसे तीर्थ बना दिया, यह इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है।

४. वे कठिन चार वर्ष

पांडीचेरी (अर्थात् तमिल का पुद्दुचेरी=नया नगर) प्राचीन काल में कभी अगस्त्य ऋषि से सम्बद्ध तथा वेदाध्ययन के लिए प्रसिद्ध केंद्र होने से 'वेदपुरी' नाम से प्रसिद्ध रहा था। किन्तु बीसवीं शताब्दी के उस प्रथम दशक में तो पांडीचेरी का नगर फ्रांस के शासन में था और फ्रांसीसी लोगों ने उसे समृद्ध भी नहीं किया था। वहां जुआ, शराब आदि का ज़ोर था और गुंडों की संख्या काफी थी। फिर भी यह ब्रिटिश भारत की अपेक्षा अधिक सुरक्षित स्थान था। यहां की जनभाषा तमिल थी और फ्रांसीसी शासन होने से फ्रेंच भी यहां बोली जाती थी। श्री अरविन्द ने तमिल का अध्ययन 'कर्मयोगी' चलाते समय ही प्रारम्भ कर दिया था। यहां उनका वह ज्ञान कुछ काम आया और फ्रेंच के तो वे पण्डित ही थे। अत: श्री अरविन्द को भाषागत कठिनाई वहाँ नहीं थी।

निवास-स्थान

श्री अरविन्द सर्वप्रथम श्री शंकर चेट्टी के अतिथि रहे जो चेट्टी स्ट्रीट में रहते थे (अब वह मकान है ३९, वैष्यल मार्ग)। अक्तूबर के अन्त में वे श्री सुन्दर चेट्टी के मकान में किराएदार के रूप में (पांडीचेरी के दक्षिणी भाग में) चले गए। अप्रैल १९११ में वे श्री राघव चेट्टी के मकान में पहुंच गए और दो वर्ष तक वहीं रहे। यह मकान सेंट लुई स्ट्रीट में था। वहां से वे अप्रैल १९१३ में मिशन स्ट्रीट में (मात्र १५ रुपए प्रति मास के किराए के) एक मकान में चले गए। अक्तूबर १९१३ में इसे 'आर्य' मासिक का कार्यालय बना दिया गया और श्री अरविन्द एक अन्य मकान में, (जो पहले ४१ नम्बर था किन्तु अब १०, ट्यू फ्रांकोई मार्ते है) चले गए और नौ वर्ष तक वहीं रहे। अक्तूबर १९२२ में इसे 'अतिथि-भवन' बना दिया गया और श्री अरविन्द एक अन्य मकान (९ र्‌यूद ल मेरीन) में स्थानान्तरित हो गए और ८ फरवरी, १९२८ को इसे 'पुस्तकालय-भवन' कर दिया गया और श्री अरविन्द उस निवास-स्थान में चले गए जो आजकल श्री अरविन्द-आश्रम में 'ध्यान भवन' कहलाता है।

उत्तर-योगी

एक रोचक बात यह है कि श्री अरविन्द के पांडीचेरी पहुंचने से बहुत पहले ही वहां के प्रसिद्ध योगी 'नगाई जपता' ने अपने शिष्यों श्री के० वी० आर० आयंगर इत्यादि को अपनी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व यह बता दिया था कि भविष्य में वहां एक महान योगी उत्तर से आएगा जिसका मार्ग-निर्देशन वे अपनी प्रगति के लिए लेते रहें। यह पूछने पर कि "उत्तर से आने वाले अनेकानेक योगियों में से उस महायोगी को कैसे पहचाना जा सकेगा?" उन्होंने कहा था कि वह महायोगी दक्षिण में शरण लेने आएगा और आने से पहले वह तीन बातों की घोषणा कर चुका होगा। जब श्री अरविन्द वहां पहुंचे तो श्री के० वी० आर० आयंगर ने उस भविष्यवाणी के अनुसार 'उत्तर-योगी' हैं या नहीं, यह पहचानने का प्रयत्न किया। पत्नी मृणालिनी के नाम श्री अरविन्द ने 'मेरे तीन पागलपन हैं···" इत्यादि जो लिखा था, वह बात अलीपुर बमकाण्ड के मुकदमे के बीच प्रसिद्ध हो चुकी थी और उसी ने स्वर्गीय योगी की भविष्यवाणी का महत्त्वपूर्ण लक्षण पूरा कर दिया। श्री आयंगर ने उन्हें 'उत्तर-योगी' के रूप में मान लिया और उनकी अंग्रेज़ी की पुस्तक 'यौगिक साधन' (जो बाद में श्री अरविन्द ने राजा राममोहनराय की आत्मा द्वारा स्वतः-चालित लेखन के अन्तर्गत लिखी गई घोषित कर दी थी) को प्रकाशित करने में सम्पूर्ण व्यय वहन किया था।

आर्थिक संकट

निस्सन्देह श्री अरविन्द तथा उनके साथियों को पांडीचेरी में प्रारंभिक अनेक वर्ष भीषण आर्थिक संकट के मध्य विताने पड़े थे। इस बीच उनके प्रमुख सहायक थे—चन्द्रनगर के श्री मोतीलाल राय, अनेक राजनीतिक काल के मित्र तथा आयंगर सदृश श्रद्धालु लोग। कालान्तर में एक फ्रांसीसी महोदय 'पाल रिशार' ने भी उनकी बहुत सहायता की। श्री अरविन्द द्वारा मोतीलाल राय को लिखे गए पत्रों में प्रायः आर्थिक विषय की प्रधानता रहती थी। ऐसे एक पत्र (३ जुलाई, १९१२) में श्री अरविन्द ने लिखा था—

"···मैं अपने मराठी मित्र को लिखा एक पत्र संलग्न कर रहा हूं। यदि वह आपको, मेरे लिए कुछ दे सकें, तो कृपया उस राशि को ज़रा भी देर किए बिना अवश्य भेज दें। यदि वह न दें, तो मेरा आपसे यह कहना है कि मुझे संकल्प-बल से अथवा आकाश या पृथ्वी की किसी भी शक्ति के द्वारा कम से कम ५० रुपए ऋण अवश्य दिला दें। यदि आप यह अन्यत्र न पा सकें, तो वारिद बाबू से ही क्यों न कहें? हां, यदि नगेन कलकत्ता में हो तो उससे पूछना कि क्या नौवाखाली के सज्जन मुझे कुछ दे सकेंगे। मुझे बताया गया था कि उन्होंने मेरे लिए ३०० रुपये पृथक्

रख दिए हैं, यदि मैं यह चाहूं। किन्तु मैंने आवश्यकता पड़े बिना मांगने की कभी इच्छा नहीं की। ठीक इस समय स्थिति यह है कि हमारे हाथ में लगभग डेढ़ रुपया है।···निस्सन्देह ईश्वर देगा, किन्तु उसने अंतिम क्षण तक प्रतीक्षा करते रहने की बुरी आदत डाल ली है। मैं यही आशा करता हूं कि भगवान यह नहीं चाहेगा कि हम अभावात्मक राशि पर रहना सीखें।"

पाल रिशार से भेंट

ऊपर जिन 'पाल रिशार' महोदय का उल्लेख किया गया है, वे एक विशिष्ट फ्रांसीसी थे। यों तो वे पांडीचेरी में १६१० में एक चुनाव में प्रत्याशी मित्र की सहायतार्थ आए थे किन्तु अधिक महत्त्व की बात यह रही कि उन्हें श्री अरविन्द के विषय में किसी मित्र ने बताया और भेंट भी करा दी जिसके परिणामस्वरूप वे अरविन्द से अत्यधिक प्रभावित हो गए। यद्यपि श्री अरविन्द किसी भी राजनीतिक कार्य से सम्बद्ध नहीं होने के लिए दूसरी मंज़िल के एक कमरे में एकांत-सा जीवन व्यतीत कर रहे थे और आगन्तुकों को मिलने की मनाही थी किन्तु श्री पाल रिशार उनसे दो बार मिले और आध्यात्मिक विषयों पर विस्तृत चर्चा भी की। श्री अरविन्द के आध्यात्मिक विकास तथा उनके दर्शन ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने फ्रांस लौटकर 'दि डान ओवर एशिया' पुस्तक में श्री अरविन्द को 'एशिया का भावी नेता' कहा था और एक जापानी सभा में स्पष्ट शब्दों में श्री अरविन्द के प्रति अपनी श्रद्धा इस प्रकार व्यक्त की थी —"महान बातों का, महान घटनाओं का, अर्थात् एशिया के दिव्य पुरुषों, महान व्यक्तियों, की भी घड़ी आ रही है। जीवन-भर मैंने उनकी विश्व-भर में खोज की है, जीवन-भर मुझे ऐसा लगा है कि वे विश्व में कहीं न कहीं हैं अवश्य और यदि वे नहीं होते तो विश्व मर जाता। कारण यह है कि वे ही इसका प्रकाश, इसकी गर्मी, इसका जीवन हैं। एशिया में ही मैंने उनमें से महानतम को पाया — वह महापुरुष जो आगामी कल के नेता हैं। वे एक हिन्दू हैं। उनका नाम है अरविन्द घोष।"

लम्बा उपवास

श्री अरविन्द ने श्री शंकर चेट्टी के मकान में रहते हुए एक २३ दिन का लम्बा उपवास भी किया था। उन दिनों वे प्रतिदिन आठ घंटे टहलना तथा पूर्ववत बौद्धिक कार्य व साधना-कार्य बिना दुर्बलता अनुभव किए पूर्ववत करते रहे। किंतु उन्होंने यह अवश्य अनुभव किया कि परिणामस्वरूप मांस कुछ कम हुआ और वे यह समझ गए कि कम से कम अभी तक मानव को शरीरके अर्थात् भौतिक अस्तित्व के लिए भोजन आवश्यक है। उन्होंने जब उपवास तोड़ा तो किसी विशेष हल्के या थोड़ी मात्रा के भोजन के स्थान पर पहले के समान ही पूरा भोजन लेना प्रारंभ

कर दिया। अवश्य ही यह एक साहसी व असाधारण प्रयोग था।

व० र० का पूर्वदर्शन

श्री के० वी० आर० आयंगर के साथ एक श्री वी० रामास्वामी आयंगर भी, जो तमिल-साहित्य-जगत में व० र० के नाम से प्रसिद्ध हुए, श्री अरविन्द से मिलने आए थे। वे श्री अरविन्द से बड़े प्रभावित हुए और बाद में आकर कुछ समय तक उनके सान्निध्य में रहे भी। श्री अरविन्द ने उनको आने से पहले ही एक पूर्वदर्शन में देख लिया था। किन्तु विशेषता यह थी कि उन्होंने श्री व० र० का जो रूप देखा था, वह उनका बाद वाला वह रूप था जो एक वर्ष उनके सान्निध्य में रहने के उपरान्त हो गया था अर्थात् तत्कालीन रूप नहीं, भावी रूप।

श्री अरविन्द द्वारा राजनीति-त्याग की सार्वजनिक घोषणा

श्री अरविन्द द्वारा पांडीचेरी से राजनीति-त्याग की सार्वजनिक घोषणा 'दी हिंदू' पत्र में ७ नवम्बर १९१० को छपी थी जिसमें उन्होंने कहा था—"मैं कृतज्ञ रहूंगा यदि आप मुझे अपने पत्र के माध्यम से सबको अपने विषय में यह सूचित करने की अनुमति दें कि मैं पांडीचेरी में हूं और रहूंगा। मैंने अपने विरुद्ध मुकदमा प्रारम्भ होने से एक मास पहले ही ब्रिटिश भारत का परित्याग कर दिया था और चूंकि मैं यहां राजनीतिक कार्य से निर्विघ्न अपनी योग-साधना करने के लिए सोद्देश्य आया था, अतः मैंने राजद्रोह के वारंट पर समर्पण करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की, जैसा मेरे लिए आवश्यक होता, यदि मैं राजनीतिक क्षेत्र में रहा होता। तब से मैं यहां एक धार्मिक एकान्तवासी के समान रहा हूं और मुझसे मिलने कुछ एक फ्रांसीसी व भारतीय मित्र ही आए हैं, किन्तु मेरे विषय में सभी बातें एक खुला रहस्य रही हैं, जो सरकार के एजेंटों को तो बहुत समय से ज्ञात रही हैं तथा मद्रास में जिनके विषय में व्यापक जनश्रुति रही है और पांडीचेरी में तो प्रत्येक को सुविदित है ही। अब मुझे, बहुत कुछ अपनी इच्छा के विरुद्ध ही, यहां पर अपनी उपस्थिति की व्यापक विज्ञप्ति के लिए बाध्य होना पड़ा है। कुछ लोगों को अपने दूरस्थ उद्देश्य के लिए यह उपयुक्त लगा है कि वे यह मत बनाएं कि मैं पांडीचेरी में नहीं अपितु ब्रिटिश भारत में हूं। और मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूं कि मैं गत मार्च से ही ब्रिटिश भारत में नहीं हूं और भविष्य में ब्रिटिश भारत में तब तक पग भी नहीं रखूंगा तब तक मैं सार्वजनिक रूप से वापस न लौट सकूं। इसके विपरीत किसी व्यक्ति का कथन, इस समय या भविष्य में भी, मिथ्या ही होगा। साथ ही, मैं यह भी पूर्णतया स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं इस समय हर प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों से संन्यास ले चुका हूं और राजनीतिक विषयों पर न तो किसी से मिलूंगा और न किसी से पत्र-व्यवहार करूंगा। ब्रिटिश भारत त्यागने के

विषय में किसी भी व्याख्या या औचित्य को प्रस्तुत करना मैं तब तक के लिए स्थगित रखता हूं जब तक कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा 'कर्मयोगी' के लेख की, जिसका मुझ पर अभियोग है, सदोषता या निर्दोषता घोषित न कर दी जाए।"

यह उल्लेखनीय है कि बाद में इस लेख को निर्दोष घोषित कर दिया गया था।

भोजन

श्री अरविन्द के साथ श्री सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती (अर्थात् मणि), श्री विजयकुमार नाग, श्री सौरीन कुमार वसु तथा श्री नलिनीकान्त गुप्त रह रहे थे। श्री शंकर चेट्टी के मकान में रहते हुए प्रारंभ में तो अतिथि के रूप में उन्हें घर में तैयार चावल, सब्ज़ी, रसम् और सांबर का भोजन और रात्रि को पायसम् मिलता। प्रातः श्री अरविन्द के लिए चाय भी तैयार होती। बाद में जीवनीकार श्री पुराणी के अनुसार "मणि और विजय अण्डे खरीद लेते थे और श्री अरविन्द के लिए कुछ बना दिया करते थे।" श्री सुन्दर चेट्टी के मकान में पहुंचने पर प्रातःकाल चाय, दूध, शकर और रोटी, दोपहर के भोजन में अन्य वस्तुओं के साथ मांस, (तीसरे पहर केवल श्री अरविन्द को चाय) और रात्रि में चावल, मछली, साग की व्यवस्था हो गई थी। उन दिनों कोई नौकर नहीं था। नौकर की व्यवस्था १९१४ से हुई। भोजन बनाने की पारी बंधी रहती। सोने की व्यवस्था भी प्रारंभ में धरती पर ही हुई थी, बाद में श्री अरविन्द के लिए एक खाट की व्यवस्था कर दी गई तथा एक मेज़ और दो कुर्सियां भी हो गई।

भारत सरकार के जासूसों का जाल

श्री अरविन्द और पांडीचेरी में आश्रय लेने वाले अन्य देशभक्तों के पीछे भारत सरकार के जासूस बुरी तरह पड़े हुए थे। एक-दो घटनाएं उल्लेखनीय हैं। फ्रांसीसी भारत के एक सक्रिय राजनीतिक व्यक्ति नंदगोपाल चेट्टी ने, जो मछली मारने का काम करता था, भारत सरकार के जासूसों के साथ एक षड्यन्त्र का आयोजन किया था। एक दिन, गुंडों की सहायता से वह श्री अरविन्द को बलपूर्वक उठाकर ले जाने वाला था जिससे फ्रांसीसी भारत से उन्हें बाहर ले जाकर ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा किसी आरोप में बन्दी बनवा दिया जाए। श्री अरविन्द को इस षड्यंत्र की सूचना किसी प्रकार मिल गई और मणि इत्यादि तेजाब की बोतलों आदि से सुसज्जित होकर योजना को विफल करने के लिए तैयार बैठे रहे किन्तु भाग्य से वह षड्यंत्र कार्यान्वित नहीं हो सका क्योंकि स्वयं नन्दगोपाल को अपने राजनीतिक विरोधियों द्वारा पुलिस से वारंट निकलवाए जाने के कारण उसी दिन प्राण बचाकर मद्रास भाग जाना पड़ा था।

एक अन्य घटना इस प्रकार हुई कि जासूसों ने कुछ राजद्रोहात्मक साहित्य

पांडीचेरी के श्री वी० वी० एस० अय्यर के घर के कुएं में डलवा दिया और वहां के एक नागरिक द्वारा सरकार को सुब्रह्मण्यम् भारती आदि के विरुद्ध राजनीतिक खतरनाक गतिविधियों की सूचना भिजवा दी। हुआ यह कि पानी भरने पर कागजों का पीपा भी आ गया और श्री अरविन्द ने सलाह लेने के लिए आए देश-भक्त महाकवि श्री सुब्रह्मण्यम् भारती को तत्काल फ्रांसीसी पुलिस को घटना की सूचना देने तथा पीपे की समग्री की परीक्षा करने को बुलाने के लिए कह दिया। फ्रांसीसी पुलिस ने पीपे को हस्तगत कर लिया। उसमें मिली काली देवी की मूर्तियों व बहुत से कागज़-पत्रों के कारण यह संदेह किया जा सकता था कि ये क्रांतिकारी फ्रांस-स्थित भारतीय क्रांतिकारियों से सम्बद्ध हैं और भारत में क्रांति करना चाहते हैं। जो फ्रांसीसी मजिस्ट्रेट जांच के लिए आया, वह श्री अरविन्द के कमरे में पुस्तकों और लिखे या कोरे कागजों को परखते-परखते ग्रीक भाषा में लिखित पृष्ठों को देखकर तो अवाक् रह गया। जब उसे श्री अरविन्द के विषय में ज्ञात हुआ कि वे अनेक यूरोपीय भाषाओं के विद्वान हैं, तब तो उसका संदेह, आदर में परि-वर्तित हो गया। उसने श्री अरविन्द को अपने कक्ष में आने का निमंत्रण दिया और श्री अरविन्द गए भी।

एक तीसरी घटना और भी रोचक रही। एक जासूस उनके पास कुछ समय तक विजय के एक सम्बन्धी के साथ आकर रहता रहा। एक दिन उसे यह भ्रम हो गया कि ये लोग उसे जान गए हैं (क्योंकि जब उसने किसी अन्य जासूस व पुलिस को पहचान कराने के लिए अपना सिर मुंडा लिया तो मणि ने उसके मना करने पर भी सिर मुंडा लिया था) और उसने सबके सामने अचानक यह स्वीकार कर लिया कि वह जासूस है और यह भी कि उसे अपने कर्मों पर पश्चाताप है। जो भी हो, यह घटना सभी को न केवल आश्चर्यचकित अपितु चिन्तित कर देने वाली हुई।

श्री अरविन्द का जन्मदिन

पांडीचेरी में १५ अगस्त १९१३ को श्री अरविन्द का जन्मदिवस उनके भक्तों व मित्रों द्वारा प्रथम बार मनाया गया था। तभी से, उनका जन्मदिवस मनाने व उस दिन सभी लोगों द्वारा उनका दर्शन करते हुए सामने से निकलने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ।

१९१४ का प्रारम्भ

श्री अरविन्द-जीवन में सन् १९१४ का विशेष महत्त्व है। इसी वर्ष उनकी श्रीमाता जी से प्रथम भेंट हुई और इसी वर्ष 'आर्य' मासिक का प्रारम्भ हुआ। दोनों घटनाएं महत्त्वपूर्ण थीं, जैसा हम आगे देखेंगे।

५. 'आर्य' का प्रकाशन

श्री अरविन्द ने पांडीचेरी में रहते हुए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं उनमें 'आर्य' मासिक का प्रकाशन भी है। इस पत्र में जो उत्कृष्ट विचार-दर्शन, स्तरीय समीक्षा, सांस्कृतिक चिंतन इत्यादि उभर कर ऊपर आए उन्होंने श्री अरविन्द की प्रतिष्ठा को ही देश-विदेश में व्याप्त नहीं कर दिया, अपितु स्वयं मानवता को एक महान योगदान भी किया। निर्धनता का कठिन जीवन व्यतीत करते श्री अरविन्द के लिए 'आर्य' का प्रकाशन संभव कैसे हो सका, और कैसे यह विचार उनके मन में आया, इसको जानना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह एक संयोग ही था कि श्री अरविन्द एक दार्शनिक पत्रिका के कर्त्ता-धर्ता बनें।

२९ मार्च १९१४ की महत्त्वपूर्ण भेंट

हुआ यह कि जो फ्रांसीसी पाल रिशार महोदय श्री अरविन्द के भक्त बनकर स्वदेश लौटे थे, वे अपनी पत्नी श्रीमती मिरा रिशार के साथ पांडीचेरी पुनः श्री अरविन्द से मिलने आए। मिरा रिशार का व्यक्तित्व स्वयं में एक महान आध्यात्मिक स्तर का था। वे अत्यन्त तेजस्वी, विदुषी तथा अलौकिक सिद्धियों वाली महिला थीं। २९ मार्च १९१४ को श्री अरविन्द से मिरा रिशार ने भेंट की। ३६ वर्षीया मिरा रिशार पर श्री अरविन्द का गहरा प्रभाव पड़ा और श्री अरविन्द भी उनके महान प्रशंसक बन गए। ३० मार्च को मिरा रिशार ने अपनी दैनंदिनी में लिखा था—"यदि सैकड़ों जीव अत्यन्त घने अंधकार में डूबे हैं तो इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। जिन्हें हमने कल देखा था वे तो पृथ्वी पर हैं ही और उनकी उपस्थिति यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि एक दिन अवश्य आएगा जब अन्धकार, ज्योति में रूपांतरित हो जाएगा। उसी समय पृथ्वी पर अवश्य ही ईश्वरीय राज्य स्थापित हो जाएगा।"

श्री पाल रिशार ने श्री अरविन्द से प्रस्ताव किया कि एक दार्शनिक पत्रिका प्रारंभ की जाए जिसमें श्री अरविन्द का विशिष्ट विचार-दर्शन अर्थात् साधनाजन्य अनुभवों का बौद्धिक विश्लेषण तथा समग्र ज्ञान व योगानुभव का समन्वित ज्ञान प्रस्तुत किया जाए। इसका आर्थिक भार उठाने में ही नहीं, संपादन इत्यादि में भी

रिशार दम्पति का भारी सहयोग मिलना निश्चित हुआ और श्री अरविन्द ने पत्रिका का नाम रखा 'आर्य'। पत्रिका के प्रथम अंक का प्रकाशन श्री अरविन्द के जन्मदिन का ध्यान रखते हुए १५ अगस्त १९१४ को किया गया। 'आर्य' का उद्देश्य घोषित करते हुए लिखा गया था—"इसका उद्देश्य है भविष्य की विचार-धारा को समझना, उसकी नींव को रूप देने में सहायता करना और इसे अतीत के सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक प्राणवान चिंतन से सम्बद्ध करना। यह पृथ्वी जड़ व चेतन का जगत है किन्तु मनुष्य न तो वनस्पति है और न पशु, वह तो एक आत्मिक और चिंतनशील प्राणी है जो यहां इसलिए नियुक्त है कि पशु-ढांचे को उच्चतर उद्देश्यों के लिए, उच्चतर प्रेरणाओं द्वारा, दिव्यतर माध्यम बनने के साथ, नया रूप दे व उपयोग में लाए। चिंतन की समस्या है सच्चे विचार और सामंजस्य के सच्चे मार्ग को खोज निकालना, आत्मा के प्राचीन व शाश्वत आध्यात्मिक सत्य को इस प्रकार पुनः प्रस्तुत करना कि वह मानसिक और भौतिक जीवन को पुनः समाहित करे, उन्हें व्याप्त करे और उन्हें शासित करे; मनोवैज्ञानिक आत्मानुशासन की गंभीर-तम तथा सशक्ततम विधियों को विकसित करना जिससे मनुष्य का मानसिक और आत्मिक जीवन अपनी ही समृद्धियों, शक्ति और जटिलता के अधिकतम संभव विकास के द्वारा आध्यात्मिक जीवन को अभिव्यक्त कर सके; और उन साधनों व प्रेरणाओं की खोज करना जिनके द्वारा उसका बाह्य जीवन, उसका समाज और उसकी संस्थाएं आत्मा के सत्य में प्रगतिशीलतापूर्वक स्वयं को पुनः ढाल सकें और वैयक्तिक स्वातंत्र्य तथा सामाजिक एकता के अधिकतम संभव सामंजस्य की दिशा में विकसित हो सकें।" आगे यह भी कहा गया था कि दर्शन तो है पदार्थों के मूल सत्य का बौद्धिक अन्वेषण और धर्म है, उस सत्य को मानव-आत्मा में गतिशील करना। वे परस्पर अनिवार्य हैं। और इसीलिए 'आर्य' में दार्शनिक चिंतन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था।

'आर्य' के सामने स्पष्ट उद्देश्य दो थे—जीवन की उच्चतम समस्याओं का व्यवस्थित अध्ययन तथा मानव की विभिन्न प्राच्य एवं पाश्चात्य धार्मिक परम्प-राओं का सामंजस्य करते हुए ज्ञान का एक विशाल समन्वय प्रस्तुत करना। 'आर्य' नाम को चुनने में भी श्री अरविन्द का एक विशिष्ट उद्देश्य था। आर्य उनकी दृष्टि में जातिवाचक तो था नहीं, यह तो गुण-वाचक था, सांस्कृतिक श्रेष्ठता का वाचक था क्योंकि वेद में उसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ था। मन व हृदय की उत्कृष्ट गुणावली से सम्पन्न व्यक्ति ही 'आर्य' होता है और उसमें ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज का समन्वय होता है। श्री अरविन्द ने स्वयं 'आर्य' में इस बात को स्पष्ट किया था जैसा 'न्यूज़ एण्ड रिव्यूज़' नामक पुस्तक में देखा जा सकता है।

'आर्य' का एक फ्रांसीसी संस्करण 'रेव्यु द ग्रांद सेन्तेज़' (अर्थात् 'महान समन्वय के विचार') भी प्रकाशित किया गया था। श्री अरविन्द स्वयं लेख तो लिखते ही

थे, प्रूफ़ भी देखा करते और प्रत्येक मास की १५ तारीख़ को पत्रिका का अंक प्रकाशित अवश्य हो जाए इसकी पूर्ण चिंता करते। श्री पाल रिशार ने दो निबंधमालाएं 'शाश्वत ज्ञान' (एटर्नल विज़डम) तथा 'जगतों का कारण' (दि वेअरफोर आफ दि वर्ल्डस) भी लिखी थीं। श्रीमती रिशार केवल फ्रांसीसी संस्करण के लिए अनुवाद किया करतीं। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ जाने के कारण श्री पाल रिशार को फ्रांसीसी सरकार ने सैन्य-सेवा के लिए बुलाया तो रिशार दम्पति फ्रांस को वापस चले गए और सात अंकों के पश्चात् ही फ्रांसीसी संस्करण बन्द कर दिया गया। 'आर्य' ठीक चलता रहा। हां, उसमें श्री अरविन्द की भारी व्यस्तता के अतिरिक्त श्री सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती, श्री नलिनीकान्त गुप्त, श्री सौरीन बोस भी हाथ बंटाते। 'आर्य' के ग्राहक बनाने में श्री मोतीलाल राय ने श्री अरविन्द के निर्देश के अनुसार पर्याप्त सहयोग दिया। प्रारम्भ में 'आर्य' की ग्राहक-संख्या केवल २०० थी।

'आर्य' की छपाई मार्डन प्रेस (पांडीचेरी) में होती थी। श्री अरविन्द हाथ से लेख लिखकर फिर टाइप भी करते और बहुत बार तो सीधे टाइप ही करते चले जाते। 'आर्य' के गंभीर लेखों को देखने पर आज भी यह आश्चर्यजनक लगता है।

श्रीमती मिरा रिशार प्रतिदिन सायं ४ बजे के लगभग श्री अरविन्द से मिलने आतीं, कुछ मिठाइयां बनाकर लातीं, कहवा बनाकर पिलातीं और पाल रिशार भी उस अवसर पर आ जाते। प्रत्येक रविवार को रिशार दम्पति के घर पर सब लोग रात्रि-भोजन करने जाते। सायं ४-३० पर श्री अरविन्द पहुंच जाते, फुटबाल खेलने के पश्चात् अन्य लोग पहुंचते और रात्रि को ९-१० बजे तक वार्तालाप चलता रहता।

'आर्य' पत्रिका जनवरी १९२१ तक चलती रही। बाद में श्री अरविन्द ने ही स्वेच्छा से उसे बन्द कर दिया था। उसकी ग्राहक संख्या तो बहुत बढ़ गई थी किन्तु अपनी साधना की गहराई में जाने के लिए उन्हें समय बचाने की आवश्यकता अनुभव हुई और तदनुसार उन्होंने यह निर्णय लिया था।

'आर्य' पत्रिका में श्री अरविन्द ने जो महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की थी, उसकी गंभीरता तथा उत्कृष्ट भाषा के कारण बहुतेरे दर्शनशास्त्र के प्राध्यापकों को भी उसे समझने में कठिनाई होती थी (और क्या आज नहीं होती ?), यह बात श्री अरविन्द को भी बताई गई थी। उन्होंने उत्तरस्वरूप कहा था कि अंग्रेज़ी भाषा पर अधिकार तथा सम्बद्ध विषय में रुचि होने पर 'आर्य' के लेखों को कोई भी समझ सकता है, और यह ठीक भी था।

'आर्य' पत्रिका में ही श्री अरविन्द की जो विभिन्न लेखमालाएं निकलीं, वे ही 'दिव्य जीवन' (दि लाइफ़ डिवाइन), 'योग-समन्वय' (दि सिन्थिसिस आफ़ योग), 'वेद-रहस्य' (दि सीक्रेट आफ़ दि वेद), 'मानव-एकता का आदर्श' (दि आइडियल आफ़ ह्यूमनिटी), 'भारतीय संस्कृति के आधार' (दि फ़ाउंडेशन्स आफ़

इंडियन कल्चर), 'भावी कविता' (दि फ्यूचर पोइट्री), 'गीता-प्रबन्ध' (एसेज़ आन दि गीता) इत्यादि ग्रंथों के रूप में प्रकाशित हुईं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मानव-चक्र' (दि ह्यूमन साइकिल) वस्तुतः 'सामाजिक विकास का मनोविज्ञान' (दि साइकोलाजी आफ सोशल डेवेलपमेंट) शीर्षक निबंधावली का ही नया नाम है। अनेक छोटी निबन्धमालाएं 'विकास' (इवोल्यूशन), 'अतिमानव' (दि सुपर-मैन), 'भारत में पुनर्जागरण (दि रिनेसां इन इंडिया), भी 'आर्य' में प्रकाशित हुई थीं। इनके अतिरिक्त अनेक उपनिषदों के अनुवाद, व्याख्याएं, शिक्षा-सम्बन्धी विचार, विश्व-राजनीति विशेषतः विश्व-युद्ध व विश्वसंघ की चर्चा, ज्योतिष, आत्माओं द्वारा स्वतः चालित लेखन, पुनर्जन्म, कला, पुस्तकों की समीक्षा, इत्यादि पर महत्त्वपूर्ण चिंतन भी 'आर्य' की समृद्ध सामग्री का अंश रहे। निस्सन्देह 'आर्य' ने अंग्रेज़ी पत्रिकाओं में एक नए स्तर, एक नए क्षितिज का दर्शन कराया और एक नए चमकीले नक्षत्र के समान उसने विश्व को कुछ काल तक आलोकित किया।

क्या श्री अरविन्द दार्शनिक थे ?

'आर्य' में इतनी दार्शनिक सामग्री देने वाले श्री अरविन्द को 'दार्शनिक' कह देना स्वाभाविक है किन्तु श्री अरविन्द स्वयं को कभी दार्शनिक मानने को तैयार नहीं हुए। वे यह तो स्वीकार करते थे कि उन्होंने 'दर्शन' लिखा है किन्तु उनका कहना यह था कि उन्होंने मात्र अपने से प्राप्त अनुभव को बौद्धिक रूप में सहज ही प्रस्तुत कर दिया है, यह नहीं कि पाश्चात्य दार्शनिकों के समान किसी काल्पनिक और वैचारिक उड़ान भरकर 'विचारों की बुनावट' के रूप में किसी दर्शन को प्रस्तुत किया हो। उनके कथनानुसार 'आर्य' पत्रिका का दायित्व तो उन्होंने इस-लिए ग्रहण किया था कि उनका विचार था कि "योगी कोई भी कार्य सफलतापूर्वक कर सकता है।" कुछ भी हो, श्री अरविन्द दार्शनिक तो थे किन्तु उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में दर्शन का गहन विषय छात्रों को पढ़ाने वाले 'प्राध्यापक दार्शनिक' होते हैं, अथवा व्यक्ति, विश्व, भगवान इत्यादि के विषय में तार्किक प्रकार के बौद्धिक ढांचे खड़े करने वाले 'पाश्चात्य दार्शनिक' होते हैं या जिस अर्थ में राजनीति, अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र आदि में से एक या अनेक क्षेत्रों के 'विचारक दार्शनिक' होते हैं। वस्तुतः श्री अरविन्द भारतीय परम्परा के अनुसार दार्शनिक थे क्योंकि यहां उन मनीषियों को ही दार्शनिक स्वीकार किया जाता है जिन्होंने परम तत्त्व का योग-पद्धति से दर्शन अथवा साक्षात्कार कर लिया हो और तब अपने तत्त्वदर्शन को बौद्धिक रूप में संजो दिया हो। श्री अरविन्द कृत विकास-प्रक्रिया-सम्बन्धी विवे-चन, अज्ञान के मूल की व्याख्या, मानव के उच्चतर मनोविज्ञान की महती सामर्थ्य अर्थात् अतिमानस इत्यादि का निरूपण, राष्ट्रात्मा का प्रतिपादन इत्यादि ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जिन्हें विश्व को उनका महान योगदान कहा जाएगा। इसी

प्रकार उनका योग समन्वय साधना के क्षेत्र में एक नयी वस्तु है और यह उनके सर्वांग दर्शन का ही व्यावहारिक रूप है। इस प्रकार श्री अरविन्द दार्शनिक भी हैं और योगी भी और निस्सन्देह पहले वे योगी हैं, पीछे दार्शनिक।

एक रोचक घटना

'आर्य' के प्रकाशन के अन्तर्गत एक रोचक घटना यहां उल्लेखनीय है। एक कम्पोजीटर ने शराब में धुत रहने की लत के कारण प्रूफ़ लाने में विलम्ब कर दिया। श्री अरविन्द के एक शिष्य ने इस पर उसे शराब पीने पर डांट लगाई। श्री अरविंद ने उस डांट-फटकार को अपने कमरे से सुना और बाहर आकर कहा, "तुम्हें किसी के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। उसे परामर्श देना व्यर्थ है। उसे पीने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। उसे यह बताना चाहिए कि वह हमारे अनुबन्ध की शर्तों को पूरा करे और प्रूफ़ नियमित रूप से देता रहे।"

श्री अरविन्द का यह जनतांत्रिक दृष्टिकोण अत्यन्त सराहनीय ही माना जाएगा।

दो घटनाएं

श्रीमती मिरा रिशार का जन्मदिवस २१ फरवरी, १९१५ को प्रथम बार मनाए जाने की घटना भी यहां उल्लेखनीय है क्योंकि अगले दिन ही वे फ्रांस प्रस्थान कर गई थीं।

उनके चले जाने के पश्चात् ही सौरीन बोस की देखरेख में 'आर्यन स्टोर्स' के नाम से बाजार में एक दुकान की स्थापना की जाने की घटना भी उल्लेख योग्य है। इसके लिए पूंजी श्रीमती मिरा रिशार ने दी थी। कुछ वर्षों तक यह दुकान भली प्रकार चलती रही किन्तु श्री सौरीन बोस के बंगाल जाने पर एक स्थानीय व्यापारी को बेच दी गई।

श्रीमती मिरा रिशार की वापसी

प्रथम महायुद्ध के कारण श्रीमती मिरा रिशार फ्रांस चली अवश्य गई थीं, किंतु वे स्वयं को श्री अरविंद के पथ पर पूर्ण समर्पित कर चुकी थीं, अतः २४ अप्रैल १९२० को वे पुनः वापस, कभी न लौटने के विचार से, आ गईं और श्री अरविन्द की साधना में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान तो रहा ही, श्री अरविन्द के अनुयायी साधकों की भी वे मार्गदर्शिका बनीं। श्री अरविन्द-आश्रम तो उन्हीं की देन है और उन्हीं की छाया में आज भी चल रहा है। कालान्तर में श्रीमती मिरा रिशार को श्री अरविन्द ने श्री माता जी (दि मदर) कहा और श्री अरविन्द-आश्रम में वे इसी नाम से श्रद्धापूर्वक सम्बोधित की जाती हैं। उनके इस महत्त्व-पूर्ण स्वरूप को कुछ विस्तार से समझने की आवश्यकता है।

६. श्रीमाताजी

श्रीमाताजी का जन्म फ्रांस के पेरिस नगर में एक महाजन परिवार में २१ फरवरी १८७८ को हुआ था। बाल्यावस्था से ही वे असाधारण थीं। श्री अरविन्द-भक्तों में से अनेक ने उनके फ्रांसीसी जीवन-काल की कुछ अलौकिक घटनाओं का उल्लेख किया है—यथा सात वर्ष की अवस्था में एक तेरह वर्ष के दुष्ट लड़के को 'महा-काली-शक्ति' से ऊपर उठाकर ज़ोर से फेंक देने की घटना, एक ढालू पहाड़ी पर उतरते समय फिसलने और गिरने पर किसी अदृश्य कोमल सहारे को पाकर सकुशल पृथ्वी पर आकर खड़ी हो जाना, सोलह वर्ष की अवस्था में एक स्टूडियो में चित्र-कला सीखते समय अपने से बड़ी अवस्था के लोगों के झगड़े निबटाने तथा स्टूडियो की प्रधान महिला को एक निर्धन कन्या की सहायता करने की बात न मनवा पाने पर उसके एक हाथ को ज़ोर से पकड़कर दबाने पर महाकाली-शक्ति का प्रदर्शन करना इत्यादि। अपनी इस अत्यधिक गम्भीर, कभी भी न हँसने वाली, बीस-वर्षीया पुत्री को जब मां ने एक बार झिड़का तो उत्तर मिला—"मुझे तो विश्व भर की पीड़ाओं का बोझा ढोना है।" मां ने समझा, लड़की कुछ सनकी है। एक बार कभी बताया हुआ काम न करने पर मां ने झिड़की दी तो उत्तर दिया—"धरती की कोई भी शक्ति मुझसे आज्ञा पालन नहीं करा सकती।"

श्रीमाताजी के स्वयं के कथनानुसार जब वे तेरह वर्ष की थीं, एक अद्भुत अनुभव उन्हें एक वर्ष-भर प्रतिदिन होता रहा - "प्रत्येक रात्रि शय्या पर जाते ही उन्हें ऐसा लगा करता कि वे अपने शरीर से निकलकर पहले मकान के ऊपर और फिर ऊपर उठती हुई नगर के बहुत ऊपर पहुंच गई; एक भव्य स्वर्णिम वस्त्र में उनका शरीर आवृत्त है और वह बड़ा होता जाता और सहस्रों स्त्री-पुरुष जो बीमार या दुःखी होते, उन्हें अपनी ओर आते, स्वर्णिम वस्त्रों को छूते और नीरोग व सुखी होकर लौट जाते दिखाई देते।

श्रीमाताजी ने अनुभव किया था कि उनका जीवन आध्यात्मिक साधना के लिए है। जब शरीर निद्रावस्था में होता तब उन्हें अनुभव होता कि वे अनेक शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त कर रही हैं और इनमें से कई शिक्षकों को तो बाद में धरती पर ही उन्होंने प्रत्यक्ष देखा भी। इन्हीं में से एक के प्रति वे विशेष आकृष्ट हो गई

और यद्यपि भारतीय दर्शनों और धर्मों का उन्हें कम ज्ञान था किन्तु वे इस व्यक्ति को जो निद्रा-काल में उन्हें ज्ञान दिया करता, 'कृष्ण' समझने व कहने लगीं। उन्हें यह भी लगने लगा कि उनका दिव्य जीवन-कार्य उन्हीं के साथ होना ही ईश्वरीय योजना है। कालान्तर में जब वे भारत आईं तो श्री अरविन्द को उन्होंने अपने 'कृष्ण' से एक रूप पाया। श्री अरविन्द से पूछने पर इस आध्यात्मिक अनुभव की पुष्टि भी हो गई।

श्रीमाताजी ने अल्जीरिया के एक पोलैण्डवासी तांत्रिक तेओं और उनकी फ्रांसीसी पत्नी से तंत्र-विद्या भी सीखी थी। श्री अरविन्द ने एक बार अपने शिष्यों को इस सम्बन्ध में कुछ बताया भी था —"श्री मां को इसका अनुभव है। वे जब अल्जीरिया में थीं, एक दिन उन्होंने अपना शरीर वहीं छोड़ दिया था और पेरिस में अपने परिचितों के मध्य उपस्थित हुईं। एक कागज़ पर उन्होंने हस्ताक्षर इत्यादि किए और कोई वस्तु भी इधर से उधर हटाई। एक बार उन्होंने अपनी प्राणिक सत्ता से रेलगाड़ी को भी रोका और चलाया और सब दृश्य देखे। माताजी के प्रथम शिक्षक तेओं को ऐसी बहुत सिद्धियां प्राप्त थीं···।"

श्रीमाताजी ने पेरिस में एक संस्था 'कॉस्मिक' स्थापित की थी जो आध्यात्मिक रुचि के तत्त्व-जिज्ञासुओं का सक्रिय केन्द्र था। उद्देश्य था स्वयं को जानना और पूर्ण बनाना। श्रीमाताजी सरस दृष्टान्त सुनातीं, लोग मंत्रमुग्ध होकर सुनते। वहां उन्होंने कुछ निबन्ध भी पढ़े थे, वे प्रत्येक गोष्ठी के अन्त में कोई प्रश्न पूछतीं, सदस्य उस प्रश्न पर विचार करते, अगली गोष्ठी में सब के उत्तर पढ़े जाते और समापन के लिए माताजी एक निबन्ध पढ़तीं। उदाहरणार्थ एक प्रश्न था—वैश्व-कार्य में मेरा क्या स्थान है? मां ने जो निबन्ध द्वारा सन्देश दिया था, वह था 'परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण'। वे प्रार्थना, ध्यान, कर्म इत्यादि के शुद्ध स्वरूप का उपदेश करतीं, सही विधि बतातीं। श्रीमाताजी ने अनन्त भगवान को अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया था और फलस्वरूप अनन्त भगवान ने उन्हें अपने कार्य का माध्यम बनाया और उनकी आध्यात्मिक साधना के स्वरूप को समझने में उनकी दो कृतियां विशेष उपयोगी हैं—'वर्ड्स आफ़ लांग एगो' तथा 'प्रेयर्स एण्ड मेडीटेशंस'। इन कृतियों में उनके उद्‌गारों में एक विचित्र आध्यात्मिक उन्मत्तता का, एक अलौकिक जीवन-दृष्टि का दर्शन होता है।

उनका श्री पाल रिशार से विवाह भी हो गया परन्तु साधना चलती रही। पाल रिशार भी आध्यात्मिक जिज्ञासु थे। जब पांडीचेरी में उनकी भेंट श्री अरविंद से हुई तो उन्होंने अनेक गम्भीर आध्यात्मिक प्रश्नों के मध्य ध्यान में दिखने वाले 'कमल' का रहस्य भी पूछा था। श्री अरविन्द का उत्तर था कि कमल, भगवान के प्रति चेतना के खुलने का प्रतीक है और चेतना के किसी भी सूक्ष्म तल पर उसे देखा जा सकता है। समाधान पाकर उन्होंने जब फ्रांस लौटकर श्री अरविन्द का

यह उत्तर तथा उनके अनेक वैशिष्ट्य बताए तो उन्हें लगने लगा कि उनका जीवन-कार्य संभवतः पांडीचेरी के श्री अरविन्द के साथ होना है। वे पांडीचेरी में श्री अरविन्द से मिलीं और प्रथम भेंट में ही समर्पित हो गईं।

पीछे कहा जा चुका है कि श्रीमाताजी ने 'आर्य' के फ्रांसीसी संस्करण के प्रायः सम्पूर्ण दायित्व का निर्वाह किया था किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर वे फ्रांस वापस लौट गई थीं। फ्रांस में रहते हुए उनका श्री अरविन्द से पत्र-व्यवहार चलता रहा जिसके कुछ अंश प्रकाशित हुए हैं। उन्हें देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका आध्यात्मिक स्तर तभी अत्यन्त उच्च था और श्री अरविन्द जिस अतिमानसिक प्रकाश को पृथ्वी पर लाने के उद्देश्य से साधनारत थे, श्री माताजी की भी कुछ वैसी ही कल्पना थी।

६ मई १९१५ के पत्र में श्री अरविन्द ने अन्त में लिखा था—"...कुछ भी हो, सफल एकान्तवास मेरे भाग्य में ही नहीं है। मुझे तब तक संसार के साथ सम्पर्क बनाए रखना होगा जब तक मैं प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त न कर लूं या मर न मिटूं या आध्यात्मिक और भौतिक के मध्य चलने वाले युद्ध को उतनी दूर तक न ले जाऊं जितनी दूर तक ले जाना मेरी नियति है।...मैं तो ईश्वरीय वाणी का अनुसरण करता हूं और न दाहिने देखता हूं, न बाएं। फल मेरा नहीं है और अब तो श्रम भी शायद ही मेरा है।"

२० मई १९१५ के पत्र का एक अंश था—"स्वर्ग हमने प्राप्त कर लिया है, किन्तु पृथ्वी नही; किन्तु योग की परिपूर्णता तो वेद के सूत्रानुसार 'स्वर्ग और पृथ्वी को समान और एक' बनाने में है।"

२८ जुलाई १९१५ के पत्र में श्री अरविन्द ने बताया है कि अब उनकी साधना में आध्यात्मिक बल और प्रतिरोध में जो जमकर युद्ध हो रहा है उसमें एक प्रकार की स्थिर अवस्था आ गई है "और यदि अन्दर शक्ति व आनन्द नहीं होते, तो यह कष्टकारक और उबाने वाला कार्य होता; किन्तु ज्ञान-दृष्टि परे देखती है और जानती है कि यह मात्र आकुंचन का प्रसंग है।"

श्री अरविन्द ने १६ सितम्बर १९१५ के पत्र में विश्व में व्याप्त अव्यवस्था पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा था—"एक लम्बे विखण्डन की अव्यवस्था या किसी शीघ्र नवजन्म की?"

श्रीमाताजी के २६ नवम्बर १९१५ के पत्र में समग्र चेतना के दिव्य ध्यान में निमग्न हो जाने और परम आनन्द की अनुभूति होने तथा भौतिक शरीर पूर्णतया रूपान्तरित-सा हो उठने की अनुभूति इत्यादि वर्णित हैं, जिस पर श्री अरविन्द ने ३१ दिसम्बर १९१५ के पत्र में प्रशंसात्मक स्वर में प्रतिक्रिया व्यक्त की थी—"जिस अनुभव का आपने वर्णन किया है वह यथार्थ में वैदिक है, यद्यपि ऐसा नहीं कि उसे योग की आधुनिक पद्धतियां, जो स्वयं को योगीय कहती

हैं, सरलता से मान लें। यह है वेद और पुराण की 'पृथिवी' का दिव्य तत्त्व से सम्मिलन, एक पृथ्वी जो हमारी पृथ्वी से ऊपर है अर्थात् वह भौतिक सत्ता और चेतना जिसके प्रतिरूप मात्र हमारे विश्व व शरीर हैं।…"

२६ जून १९१६ के विस्तृत पत्र में श्री अरविन्द ने उच्च आध्यात्मिक प्रगति में बाधाओं की चर्चा की थी। इस पत्र से उनकी अपनी साधना की कुछ झलक भी मिलती है। श्री पुराणी ने इस पत्र को विस्तार से उद्धृत किया है।

श्रीमाताजी का पुनः भारत आगमन

२४ अप्रैल १९२० को श्रीमाताजी का दूसरा भारत-आगमन हुआ और तब से वे यहीं हैं। पहले उनका निवास अन्यत्र था किन्तु २४ नवम्बर १९२० के भयंकर तूफान व वर्षा के फलस्वरूप कुछ मकानों की छतें बैठ जाने के दृश्यों के कारण श्रीमाताजी का निवास भी श्री अरविन्द के निवासस्थान पर ही हो गया और फिर वे श्री अरविन्द के साथ एक मकान में ही रहती रहीं। भारत आने से पहले जापान में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनसे भेंट की थी और उन्हें शान्ति निकेतन का कार्य-भार संभालने को आमन्त्रित किया था किन्तु अपनी जीवन-दिशा पूर्व निर्धारित होने के कारण वे उस निमन्त्रण को स्वीकार न कर सकीं। पांडीचेरी आकर वे भारतमाता की ही एक पुत्री के रूप में रहने लगीं।

श्रीमाताजी की भारत-भक्ति

श्रीमाताजी भारत की नागरिकता-प्राप्ति की सदैव इच्छुक रहीं किन्तु पराधीन भारत में यह संभव नहीं हो सका किंतु वे अब भारतीय नागरिक हैं। १९४७ में भारतीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति होते ही उन्होंने जो घोषणा की थी—"आज मैं अपनी एक चिर-आकांक्षा प्रकट करना चाहती हूं। वह इच्छा यह है कि मैं भारतीय नागरिक बनूं। जब से मैं पहली बार १९१४ में यहां आयी थी, तभी से यह अनुभव करती रही हूं कि भारतवर्ष ही मेरा सच्चा देश है, यही मेरी आत्मा और अन्तरात्मा का देश है। भारत की स्वतन्त्रता के समय ही मैं इस इच्छा को पूर्ण करना चाहती थी अतः मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ी। जन्म तथा प्रारम्भिक शिक्षा के कारण मैं फ्रांसीसी हूं परन्तु अपनी इच्छा और अभिरुचि के कारण भारतीय। चेतना में इन दोनों में कोई विरोध नहीं है अपितु सामंजस्य है और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। मैं जानती हूं कि मैं समान रूप से दोनों की सेवा कर सकती हूं। मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य श्री अरविन्द की महान् शिक्षाओं को मूर्त रूप देना है। उन शिक्षाओं में उन्होंने यह बताया है कि सब राष्ट्र वास्तव में एक हैं और उनका प्रयोजन यही है कि इस पृथ्वी पर संगठित और सर्वांगीण विविधता में दिव्य एकता स्थापित करें।"

भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर श्रीमाताजी ने भारत-माता का आवाहन करते हुए कहा था—"हे हमारी मां! हे भारत की आत्मशक्ति! हे जननी! तूने कभी, अत्यन्त अन्धकारपूर्ण अवसाद के दिनों में भी, यहां तक कि जब तेरी सन्तानों ने तेरी वाणी अनसुनी कर दी, अन्य प्रभुओं की सेवा की और तुझे अस्वीकार कर दिया, तब भी तूने उनका साथ नहीं छोड़ा। मां! आज इस महान् घड़ी में, जब वे जाग पड़े हैं और तेरी स्वतन्त्रता के इस उषाकाल में तेरे मुखमंडल पर ज्योति पड़ रही है, हम तुझे नमस्कार कर रहे हैं। हमें पथ दिखा जिससे स्वतंत्रता का जो विशाल क्षितिज हमारे सामने उन्मुक्त हुआ है, वह तेरी सच्ची महानता का तथा विश्व के राष्ट्र-समाज में तेरे सच्चे जीवन का भी क्षितिज बने। हमें पथ दिखा जिससे हम सर्वदा महान् आदर्शों के पक्ष में ही खड़े हों और अध्यात्म-मार्ग के नेता के रूप में तथा सभी जातियों के मित्र और सहायक के रूप में तेरा सच्चा स्वरूप मनुष्य जाति को दिखा सकें।"

श्रीमाताजी के अनुसार भारत एक और अखण्ड है। श्री अरविन्द-आश्रम में अखण्ड भारत का जो मानचित्र है उसके विषय में पूछे जाने पर यही कहा था कि यही वास्तविक भारत है और राजनीतिक आंधी उतर जाने के बाद भारत खण्डित नहीं, अखण्ड रूप में ही प्रकट होगा।

भारतीयकरण की प्रवृत्ति

श्रीमाताजी के सौन्दर्य से तो वे सभी प्रभावित होते ही थे जो उनके सम्पर्क में आते। श्री अरविन्द के जीवनीकार श्री पुराणी ने प्रथम दर्शन के समय की अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त की थी—"मैंने प्रथम बार श्रीमाताजी को देखा था। वे सीढ़ियों के समीप खड़ी थीं। उस समय जलपान करके श्री अरविन्द ऊपर जा रहे थे। ऐसा अलौकिक सौन्दर्य मैंने पहले कभी नहीं देखा। यद्यपि वे ३५ वर्ष से ऊपर की थीं किन्तु २० वर्ष से ऊपर की नहीं लग रही थीं।···मकान पूरा बदल हो गया हो जैसे। खुले आंगन में एक साफ़-सुथरी फुलवारी हो गयी थी। प्रत्येक कमरे में सादा और सुन्दर फर्नीचर था—एक चटाई, एक कुर्सी और एक छोटी मेज़। यह निःसन्देह श्री मां की उपस्थिति का परिणाम था।" हां, श्री पुराणी ने यह भी लिखा था—"आश्रम का वातावरण कुछ तनावपूर्ण लगा। श्री मां और दत्ता र्यू फ्रांस्वां मार्ते में श्री अरविन्द के मकान में आ गई थीं।"

भारत को मातृभूमि स्वीकार करने वाली श्रीमाताजी को यह भी ज्ञात था कि भारतीय वेशभूषा, भारतीय भाषा आदि के द्वारा भारतीयकरण भी करना ही चाहिए। अतः उन्होंने बंगला सीखी, साड़ी पहनना प्रारम्भ किया। और भी बहुत कुछ सीखा और भारतीय सांचे में मानो पूर्णतया ढल गईं।

'माताजी' नाम

श्री अरविन्द उन्हें वर्षों तक 'मिरा' नाम से ही बुलाते रहे किन्तु कालान्तर में उन्होंने उन्हें न केवज 'माताजी' (मदर) कहना ही प्रारम्भ किया अपितु 'दि मदर' नामक पुस्तक भी लिखी जिसमें उनकी शक्तियों का परिचय दिया गया था।

श्रीमाताजी—प्रिय और अप्रिय

श्रीमाताजी का श्री अरविन्द के साथ एक मकान में रहना शीघ्र ही आलोचना का विषय बन गया। श्री अरविन्द के अनेक शिष्य तो श्रीमाताजी के सौम्य व्यवहार से प्रभावित होकर तथा श्री अरविन्द पर श्रद्धा के कारण श्री माताजी के प्रति आदर भाव रखे रहे किन्तु कुछ शिष्यों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसे शिष्यों में श्री मोतीलाल राय का नाम उल्लेखनीय है। श्री मोतीलाल राय ने चन्द्रनगर में श्री अरविन्द को आश्रय तो दिया ही था, तब से अभी तक वे श्री अरविन्द की आर्थिक सहायता, स्वयं तथा माध्यम रूप में करते रहे थे। उन्होंने श्री अरविन्द से योग की दीक्षा भी ली थी। किन्तु उनमें व श्री अरविन्द में मतभेद बढ़ते गए और 'प्रवर्तक संघ' (चन्द्रनगर) का यह प्रभावी प्रवर्तक जो पांडीचेरी में पत्नी सहित रहने के लिए बड़ी श्रद्धा से गया था, वहां से अश्रु बहाते हुए सदैव के लिए वापस चला आया। और भी कुछ शिष्यों को, संभवतः वारीन्द्र को भी, श्रीमाताजी—एक महिला और वह भी विदेशी—का श्री अरविन्द-भवन में साथ-साथ रहना और सब पर छा जाना अप्रिय ही लगा, किन्तु धीरे-धीरे श्री अरविन्द के प्रयत्न से तथा श्री माताजी के अपने गुणों व आध्यात्मिक क्षमता के कारण वे श्री अरविन्द के शिष्यों की श्रद्धेय हो गईं।

१ जनवरी १९२२ से श्रीमाताजी का दायित्व

श्रीमाताजी ने श्री अरविन्द के घर की सम्पूर्ण व्यवस्था का दायित्व स्वेच्छा से अपने ऊपर १ जनवरी १९२२ से ले लिया था। श्री अरविन्द ने अपने पथ के साधकों के विकास का दायित्व भी बहुत कुछ श्रीमाताजी पर छोड़ दिया। वे अपने शिष्यों को अनेक प्रकार से अपनी और श्रीमाताजी की चेतना की अभिन्नता की बात समझाया करते थे। धीरे-धीरे श्री अरविन्द-आश्रम एक व्यवस्थित रूप लेने लगा। श्रीमाताजी ही उसकी प्रमुख रहीं। श्रीमाताजी में व्यवस्थाप्रियता सदैव से है। आकर्षक फुलवारी व फर्नीचर की सरल व स्वच्छ व्यवस्था तथा भोजन की उत्तम व्यवस्था उन्हीं के कारण आई।

श्रीमाताजी का जगन्मातृत्व ?

श्री अरविन्द-भक्तों की यह धारणा है कि श्रीमाताजी वस्तुतः जगन्माता ही हैं। श्री अरविन्द ने भी ऐसा बहुत कुछ कहा था और साधकों को श्री मां के प्रति उद्घाटन और समर्पण का सन्देश दिया था। श्री मां जगन्माता का अवतार या साक्षात जगन्माता हैं या नहीं, यह कोई बौद्धिक परिधि का तो प्रश्न है नहीं और इस कारण इसका बौद्धिक उत्तर देना भी निरर्थक है। महत्त्वपूर्ण बात यह जानना है है कि श्री अरविन्द के साधना-पथ में श्री अरविन्द के पश्चात् श्रीमाताजी ही सर्वोच्च निर्देशिका हैं और उनके आध्यात्मिक विभूतिमत्व ने अगणित लोगों को प्रभावित किया है। आश्रम में जानेवाले नए अभ्यागत को श्रीमाताजी की महत्ता प्रायः समझ में आ जाती है और साधकों के लिए तो श्रीमाताजी श्री अरविन्द का ही एक रूप हैं और आश्रम की तो चेतना ही हैं।

७. निमंत्रण और अस्वीकृति

'सागर-संगीत', का अनुवाद

श्री अरविन्द के प्रति देशबन्धु चित्तरंजनदास की आत्मीयता का एक उत्कृष्ट उदाहरण अलीपुर अभियोग में मिल चुका था जब देशबंधु ने उनके मुक्त कराने के लिए अपनी भीषण आर्थिक हानि की रत्ती-भर भी चिन्ता नहीं की थी। इन दिनों आर्थिक कष्टों में पांडीचेरी-स्थित श्री अरविन्द की सहायतार्थ जब उनसे बात की गई तो उन्होंने प्रत्यक्ष सहायता कर सरकार के नेत्रों में खटकने के स्थान पर एक युक्ति निकाली। अपनी काव्य-कृति 'सागर-संगीत' का अंग्रेज़ी में अनुवाद करने के लिए उन्होंने श्री अरविन्द को एक सहस्र रुपए देने की बात रखी। इस प्रकार श्री अरविन्द द्वारा 'सागर-संगीत' का अंग्रेज़ी अनुवाद 'सांग्स आफ़ दी सी' के नाम से प्रकाशित हुआ जो अत्यन्त प्रशंसित रहा।

मिलने जाने के कार्यक्रम

श्री अरविन्द ने अपनी बाह्य गतिविधियां बहुत कम कर दी थीं। पांडीचेरी आने पर वे प्रारम्भिक वर्षों में तो मिलने के लिए जाया-आया भी करते थे जैसे जोसेफ़ डैविड (जो बाद में पांडीचेरी के महापौर हुए) के विवाह या उनकी पुत्री के बप्तिस्मा से अवसर पर अथवा श्रीनिवासाचारी की पुत्री के विवाह में या ऐसे ही किसी अन्य अवसर पर किन्तु १९२० के पश्चात् वे अपने घर तक ही सीमित रहने लगे।

आगन्तुकों से भेंट

किन्तु श्री अरविन्द से मिलने वाले आगन्तुकों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही गई। बंगाल के लोग तो उनसे आकर मिला ही करते थे, शेष भारत के अनेकानेक व्यक्ति भी जो उनसे परिचित रहे थे, मिलने आते रहे। मुकुलचन्द्र डे (बाद में कलकत्ता स्कूल आफ़ आर्ट के प्राचार्य) चार दिन तक चित्र बनाने के लिए श्री अरविन्द का कुछ-कुछ घंटे का समय लेते रह। अनेक लोग अपनी 'साधना की

कठिनाइयों' पर उनका परामर्श लेने आते। कुछ लोग उनके शिष्य बनने के लिए भी आते किंतु प्रायः उन्हें निराश होकर जाना पड़ता।

जोसेफ़ बैप्टिस्टा को महत्त्वपूर्ण उत्तर

लोकमान्य तिलक के दल के श्री जोसेफ बैप्टिस्टा नामक एक बैरिस्टर महोदय ने तिलक के संकेत पर श्री अरविन्द को बम्बई से निकाले जाने वाले एक पत्र के सम्पादन के लिए आमंत्रित किया था। राष्ट्रवादी दल का प्रभाव दिन-दूना रात चौगुना बढ़ रहा था। आशा यह कि गई थी कि श्री अरविन्द इस प्रार्थना को स्वीकार कर लेंगे और राष्ट्रवादी दल को एक सुदृढ़ स्तम्भ का लाभ होगा। किन्तु श्री अरविन्द के ५ जून, १९२० के उत्तर में स्पष्ट अस्वीकृति थी। श्री अरविन्द का पत्र महत्त्वपूर्ण है—"आपका प्रस्ताव प्रलोभजनक है किन्तु मुझे खेद है कि मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता। केवल आपके कारण ही मैं अपने इस निर्णय के कारणों को स्पष्टतया बता रहा हूं। प्रथम बात तो यह है कि मैं अभी ब्रिटिश भारत में लौटने को तैयार नही हूं। यह राजनैतिक बाधा से भिन्न बात है। मुझे ज्ञात है कि गत सितम्बर तक बंगाल सरकार और (संभवतः मद्रास सरकार भी) मेरी ब्रिटिश भारत में वापसी के विरुद्ध थी और व्यावहारिकतया इस विरोध का अर्थ था कि यदि मैं वापस जाऊं तो मुझे उन लाभकारी कानूनों में से किसी के अन्तर्गत या तो अज़रबंद या क़ैद कर दिया जाए जो आपाततः अभी भी विश्वास और सहयोग के नवयुग को लाने में सहायकों के रूप में वर्तमान हैं। मैं यह नहीं मानता कि अन्य सरकारें अपने प्रदेशों में मेरे प्रकट होने से आनंदित होंगी। संभवतः राजघोषणा से कुछ अन्तर पड़े, किन्तु वह निश्चित नहीं है क्योंकि जैसा मैं समझता हूं, इसका अर्थ सबको राज-क्षमा नहीं है अपितु कृपापूर्वक सुविधा तथा दयालुता जो वायसराय के स्व-निर्णय से सीमित है। इस समय मेरे पास इतना अधिक काम है कि सरकार का अनभिप्रेत अतिथि बनकर सावकाश चैन के साथ अपने समय को नष्ट नहीं कर सकता। किन्तु यदि मुझे पूर्णतया स्वतंत्र कार्य और गतिविधि का आश्वासन मिल भी जाए तो भी मैं अभी आना नहीं चाहूंगा। मैं पांडीचेरी इसलिए आया था कि यहां वर्तमान राजनीति से असम्बद्ध एक निश्चित उद्देश्य के लिए स्वतंत्रता व शान्ति प्राप्त कर सकूं– यहां आने के समय से ही मैंने राजनीति में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया है, यद्यपि देश के लिए जो मैं अपने प्रकार से कर सकता था, मैंने निरन्तर किया है—और जब तक यह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक मेरे लिए यह संभव नहीं है कि किसी प्रकार की सार्वजनिक गतिविधि को पुनः प्रारम्भ करूं। किन्तु यदि मैं ब्रिटिश भारत में रहूं, तो मुझे विभिन्न प्रकार के कार्यों में कूदना ही पड़ेगा। पांडीचेरी मेरी आध्यात्मिक साधना-स्थली है, तपस्या की कंदरा है, संन्यासी की कंदरा जैसी नहीं, किन्तु मेरे द्वारा आविष्कृत अभिनव

प्रकार की। मुझे इस कार्य को पूर्ण करना ही चाहिए, इसे छोड़ने से पूर्व मुझे अपने कार्य के लिए आन्तरिक रूप से शास्त्रयुक्त एवं सुसज्जित होना ही चाहिए।

फिर स्वयं कार्य के सम्बन्ध में मेरा विचार। मैं राजनीति या राजनीतिक कार्य को हीन दृष्टि ने बिलकुल नहीं देखता हूं और न यह समझता हूं कि मैं उनसे ऊपर उठ गया हूं। मैं सदैव आध्यात्मिक जीवन पर अधिक बल देता रहा हूं और अब मैं एकमात्र उसी पर बल दे रहा हूं, किन्तु आध्यात्मिकता-विषयक मेरी कल्पना में लौकिक वस्तुओं के प्रति संन्यासी जैसा पलायन या घृणा या विरक्ति नहीं है। मेरी दृष्टि में कोई भी बात लौकिक (सैक्यूलर) नहीं है, सभी मानव-गतिविधि मेरे लिए पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में समावेश्य है और वर्तमान समय में राजनीति का बहुत ही महत्त्व है। किन्तु राजनीतिक गतिविधि के उद्देश्य एवं स्वरूप के विषय में मेरी कल्पना प्रचलित स्वरूप से बहुत भिन्न है। मेरा राजनीतिक कार्यों में प्रवेश और १९०३ से १९१० तक उसमें सक्रियता एक ही उद्देश्य से थे कि देशवासियों के मन में स्वाधीनता-प्राप्ति का एक दृढ़ संकल्प प्रतिष्ठित कर देना और उसके लिए कांग्रेस के उस समय के ढीले-ढाले प्रयत्नों के स्थान पर संघर्ष की आवश्यकता भी। वह अब हो चुका है और अमृतसर कांग्रेस से इसकी पुष्टि हो गई है। यद्यपि वह संकल्प अभी भी उतना व्यावहारिक और ठोस नहीं है, न जितना होना चाहिए उतना सुसंगठित और न दृढ़ प्रयत्नपूर्ण किन्तु फिर भी संकल्प है और उसका मार्ग-दर्शन करने के लिए सशक्त और योग्य नेताओं की प्रचुरता भी। मेरा विचार है कि सुधारों की अपर्याप्तता होते हुए भी आत्मनिर्णय का संकल्प, यदि देश की वर्तमान मनःस्थिति बनी रहे—जैसी निस्सन्देह बनी रहेगी—तो शीघ्र ही प्रभावी हो जाएगा। इस समय जिस प्रश्न में मैं व्यस्त हूं वह यह है कि देश अपने आत्म-निर्णय के द्वारा क्या करने वाला है, यह अपनी स्वतंत्रता का उपयोग कैसे करेगा, किस रूपरेखा पर यह अपने भविष्य को निश्चित करने वाला है?

आप पूछ सकते हैं कि मैं क्यों न बाहर आ जाऊं और स्वयं ही मार्गदर्शन में यथासंभव सहायता करूं? किन्तु मेरे मन को समय से आगे-आगे भागने का असुविधाजनक स्वभाव पड़ गया है—कोई कह सकता है कि समय से असम्बद्ध पूर्णतया आदर्श लोक में।

"आपने लिखा है कि आपका दल एक 'समाजवादी लोकतांत्रिक दल' होगा। अब मैं जिस चीज़ में विश्वास करता हूं उसे 'सामाजिक लोकतंत्र' कह सकते हैं किन्तु उसके प्रचलित रूपों में से किसी प्रकार का नहीं, और यूरोपीय प्रकार के सामाजिक लोकतंत्र के प्रति तो मुझे तनिक भी अनुराग नहीं है, चाहे उसमें अतीत की अपेक्षा कितना भी सुधार हो चुका हो। मेरी धारणा है कि भारत की अपनी एक आत्मा होने और अपनी सभ्यता के अनुरूप ही अपनी एक शासनपरक प्रकृति होने के कारण, अन्य क्षेत्रों के समान राजनीति के क्षेत्र में भी अपना मौलिक पथ

खोजना चाहिए, न कि यूरोप के पीछे ठोकरें खानी चाहिए। किन्तु उसे ठीक यही करना पड़ेगा यदि उसे मन की वर्तमान अव्यवस्थापूर्ण और अतत्पर अवस्था में ही मार्ग पर चलना पड़ेगा। निस्सन्देह कुछ लोग भारत को अपनी लाइनों पर विकसित होने की बात कहते हैं किन्तु किसी पर भी उसके विषय में बहुत स्पष्ट या पर्याप्त विचार नहीं है कि वे लाइनें क्या होनी हैं। इस विषय में मैंने अपने कुछ निजी आदर्श और कुछ निश्चित विचार बनाए हैं, जिनमें आज तो बहुत कम लोगों द्वारा मेरा अनुसरण करने की संभावना है क्योंकि वे एक अभिनव प्रकार के अडिग आध्यात्मिक आदर्शवाद से शासित हैं और बहुतों की समझ से परे होंगे और एक बड़ी संख्या को तो आक्रमण और बाधा भी प्रतीत होंगे। किन्तु मेरे पास व्यावहारिक लाइनों का स्पष्ट और पूर्ण विचार नहीं है, मेरे पास कोई निर्मित कार्यक्रम नहीं है। संक्षेप में कहूं तो मैं अपने मन में अपना पथ खोज रहा हूं और न मैं प्रचार के लिए तैयार हूं और न काम के लिए। यदि ऐसा होता भी तो इसका अर्थ यही होता कि कुछ समय तक मैं अकेला ही कार्य करता रहूं या यह अर्थ कि कम-से-कम यह स्वतंत्रता हो कि मैं अपने मार्ग पर चल सकूं। आपके पत्र के सम्पादक के रूप में मुझे दूसरों के मत को ध्वनित करना होगा और अपने मत को चुप रखना होगा और यद्यपि वर्तमान समय की गतिविधि की दृष्टि से उन्नत दलों के सामान्य विचारों से मुझे पूर्ण सहानुभूति है, और यदि मैं क्षेत्र में होता तो मैं उनकी सहायतार्थ यथासंभव कार्य करता तथापि मैं स्वभावत: उस प्रकार से स्वयं को कम-से-कम वांछित सीमा तक भी, सीमित करने में असमर्थ हूं।

"इस उबाने वाले पत्र की लम्बाई को क्षमा करिएगा। मैंने यह आवश्यक समझा कि पूर्णतया स्पष्ट कर दूं जिससे यह प्रभाव ग्राप पर न पड़े कि किसी ढोंग या आध्यात्मिक एकान्तता की यथार्थता, या देश की पुकार से जी चुराने की इच्छा या आप व अन्य लोग प्रशंसनीय ढंग से जिस कार्य को कर रहे हैं उसमें सहानुभूति के अभाव के कारण आपकी प्रार्थना को मैंने अस्वीकृत कर दिया है। मैं पुनः खेद प्रकट करता हूं कि मैं आपको निराश करने को बाध्य हुआ हूं।"

वारीन्द्र को पत्र

श्री अरविन्द ने उपर्युक्त पत्र ५ जनवरी १९२० को लिखा था। १९१९ में श्री अरविन्द के अनुज श्री वारीन्द्र घोष (जिन्हें प्रायः 'बारिन' कहा जाता रहा) अंडमान से मुक्त होकर बंगाल आ गए थे। श्री वारीन्द्र भी उच्चात्मा थे और योग में उनकी भी रुचि थी। किन्तु वे देश की दृष्टि से भी चिंतित थे और देशभक्ति के लिए काले पानी की यात्रा करने वाले वारीन्द्र के लिए यह स्वाभाविक भी था। उन्होंने श्री अरविन्द को एक पत लिखा था जिसमें उनके अपने अनेक प्रश्न और कुछ विचार भी थे। श्री अरविन्द ने ७ अप्रैल १९२० को जो उत्तर दिया था,

उसको 'पांडीचेरीर पत्र' के नाम से प्रसिद्धि मिली थी। वह पत्र बंग-भाषा में है। अपने महत्त्वपूर्ण विचारों के कारण वह द्रष्टव्य है—"तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ। अब तक अनुत्तरित रहा। यह भी जो लिखने बैठा ही हूं, इसे भी चमत्कार ही समझा क्योंकि मेरा पत्र लिखना तो कभी-कभी ही होता है, संभवतः बंगभाषा में लिखना तो गत पांच-सात वर्षों में एक बार भी नहीं हुआ। इसे पूर्ण करके यदि डाक में भेज सकूं, तभी यह चमत्कार पूरा होगा।

"प्रथम तुम्हारे योग की बात। तुम मुझे अपने योग का भार देना चाहते हो और इसे मैं स्वीकार करने को सहमत हूं अर्थात् परमात्मा को देने के लिए, जो मुझको और तुमको परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से अपनी दिव्य शक्ति द्वारा चला रहा है। किन्तु यह अवश्य जान लो कि इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि तुम्हें उसी विशिष्ट मार्ग पर चलना होगा जो भगवान् ने मुझे दिया है और जिसे मैं पूर्ण योग कहता हूं। जिससे मैंने प्रारम्भ किया था, जो मुझे लेले ने दिया था, वह तो मार्ग का अन्वेषण था, पुराने खण्ड योगों में इसको-उसको स्पर्श करते हुए इधर-उधर घूम-फिर कर देखना। बाद में जब मैं पांडीचेरी आया, तो यह अस्थिर अवस्था समाप्त हो गई। अंतर्यामी जगद्गुरु ने मुझे अपने पथ की पूर्ण दिशा का, इसके पूर्ण सिद्धान्त अर्थात् दसों योग-अंगों का निर्देश किया। इन दस वर्षों में भगवान् मेरे द्वारा अनुभव से उसी को विकसित करा रहा है। किन्तु यह अभी समाप्त नहीं हुआ है। और दो वर्ष लग सकते हैं और जितने दिनों तक पूर्ण नहीं होता, मुझे संदेह है कि मैं वापस बंगाल जा पाऊं। पांडीचेरी ही मेरी योगसिद्धि का निर्दिष्ट स्थल है, अवश्य इसके एक अंश 'कर्म' को छोड़कर। मेरा कार्य-केन्द्र है बंगाल, यद्यपि आशा है कि इसकी परिधि सम्पूर्ण भारत और सम्पूर्ण पृथ्वी होगी।

"यह योगमार्ग क्या है, यह पीछे लिखूंगा अथवा तुम यहां आओ तभी उस विषय में बातचीत होगी। इस विषय में लिखने की अपेक्षा बातें करना अधिक अच्छा है। इस समय केवल इतना कह सकता हूं कि पूर्ण ज्ञान, पूर्ण कर्म और पूर्ण भक्ति के सामंजस्य और ऐक्य को मानसिक भूमि से ऊपर उठाकर मन के परे विज्ञान-भूमि में पूर्ण सिद्ध करना ही उसका मूल तत्त्व है। पुराने योग का दोष यही था कि वह मन-बुद्धि को जानता था और आत्मा को जानता था, मन के भीतर ही आध्यात्मिक अनुभूति पाकर संतुष्ट रहता था। किन्तु मन तो खण्ड को ही आयत्त कर सकता है। वह अनन्त, अखण्ड को सम्पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकता। उसे ग्रहण करने के लिए समाधि, मोक्ष, निर्वाण इत्यादि ही मन के उपाय हैं, अन्य कोई उपाय नहीं। उस लक्ष्यहीन मोक्ष को कोई-कोई मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उससे क्या लाभ? ब्रह्म, आत्मा, भगवान् तो हैं ही। भगवान् मनुष्य से जो चाहते हैं वह है उन्हें यहां व्यष्टि में और समष्टि में मूर्त करना, जीवन में भगवान् को साकार करना।

"पुरातन योग-प्रणालियां अध्यात्म और जीवन के मध्य सामंजस्य अथवा ऐक्य स्थापित नहीं कर सकीं, जगत को माया या अनित्य लीला कहकर उड़ा देती हैं। फलस्वरूप हुआ है जीवनीशक्ति का ह्रास, भारत की अवनति। गीता में कहा गया है—"उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्" और भारत में 'इमे लोकाः' सत्य ही उत्पन्न गए हैं। कुछ संन्यासी, वैरागी, साधु, सिद्ध, मुक्त हो जाएं, कुछ भक्त प्रेम से, भाव से, आनन्द से अधीर होकर नृत्य करें, और समस्त जाति प्राण-हीन बुद्धिहीन होकर घोर तमोभाव में डूब जाए, यह भला कैसी अध्यात्मसिद्धि है?

"पहले मानसिक स्तर पर सभी खण्ड अनुभूतियों को पाकर, मन को अध्यात्म रस में निमग्न कर, अध्यात्म के आलोक से आलोकित करना होता है। तत्पश्चात् ऊपर उठना होता है। ऊपर अर्थात् विज्ञान-भूमि में उठे बिना जगत का अन्तिम रहस्य जानना असंभव है; जगत की समस्या हल नहीं होती। वहीं आत्मा और जगत, अध्यात्म और जीवन, इस द्वन्द्व की अविद्या का नाश होता है। उस समय जगत माया-रूप में नहीं देखा जाता अपितु जगत भगवान् की शाश्वत लीला और आत्मा का नित्य विकास प्रतीत होता है। उसी समय भगवान् को पूर्ण रूप से जान पाना संभव होता है—गीता में जिसे कहा गया है 'समग्रं मां ज्ञातुम्'। अन्न-मय देह, प्राण, मन-बुद्धि, विज्ञान और आनंद—ये आत्मा की पांच भूमियां हैं। मनुष्य जितना ही ऊपर उठता है उतनी ही उसके आध्यात्मिक विकास की चरम सिद्धि की अवस्था निकट आती जाती है। विज्ञान में पहुच जाने पर आनन्द में पहुंच जाना सहज हो जाता है; अखण्ड अनन्त आनन्द की अवस्था में दृढ़ प्रतिष्ठा हो जाती है, केवल त्रिकालातीत परब्रह्म में नहीं—देह में, जगत में, जीवन में। पूर्ण सत्, पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द विकसित होकर जीवन में मूर्त होते हैं। यह प्रयास ही मेरे योगमार्ग का प्रमुख सूत्र है।

"ऐसा सोना सहज नहीं है। इन पन्द्रह वर्षों के पश्चात् मैं अभी तक विज्ञान के तीन स्तरों में से निम्नतम स्तर में पहुंचकर नीचे की सभी वृत्तियों को उसके अन्दर खींचकर ले जाने का प्रयत्न कर रहा हूं। परन्तु जब यह सिद्धि पूर्ण होगी तब भगवान् मेरे द्वारा अन्यों को अल्प प्रयास पर ही विज्ञान-सिद्धि देंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। उसी समय मेरा वास्तविक कार्य प्रारम्भ होगा। मैं कर्मसिद्धि के लिए अधीर नहीं हूं। जो होना है, वह भगवान् द्वारा निर्दिष्ट समय पर होगा। उन्मत्त की भांति दौड़कर क्षुद्र 'अहं' की शक्ति के साथ कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने की प्रवृत्ति नहीं है। यदि कार्यसिद्धि न भी हो तो धैर्य नहीं त्यागूंगा। यह काम मेरा नहीं है, भगवान् का है। मैं और किसी की भी पुकार नहीं सुनूंगा। भगवान् जब चलाएंगे, तब चलूंगा।

"बंगाल अभी ठीक तैयार नहीं हुआ है, यह मैं जानता हूं। जो अध्यात्म की

बाढ़ आई है, वह है बहुत-कुछ पुरातन का ही नवीन रूप, वास्तविक रूपान्तर नहीं है। अवश्य ही, यह भी आवश्यक थी। बंगाल सभी पुराने योगों को अपने में जगाकर उनका संस्कार क्षीण करके यथार्थ सार-तत्त्व को लेकर भूमि को उर्वरा बना रहा है। पहले थी वेदान्त की बारी—अद्वैतवाद, संन्यास, शंकर की माया इत्यादि। इस समय जो हो रहा है, वह वैष्णव धर्म की बारी है—लीला, प्रेम, भाव के आनंद में मत्त होना। यह सब अत्यन्त प्राचीन है, नवयुग के लिए अनुपयोगी है। यह सब नहीं टिकेगा, कारण ऐसी उत्तेजना टिकने योग्य ही नहीं है। अवश्य ही वैष्णव भाव का यही गुण है कि यह भगवान् के साथ जगत का एक सम्बन्ध बनाए रखता है, इसमें जीवन का एक अर्थ होता है। किन्तु खंड भाव होने से इसमें पूर्ण सम्बन्ध, पूर्ण अर्थ नहीं है। तुम जो दलबंदी का भाव देख रहे हो, वह अनिवार्य है। मन का धर्म ही है एक खण्ड को पूर्ण कहना और अन्य सभी खण्डों का बहिष्कार करना। जो सिद्धपुरुष भाव को लाते हैं, वे खण्ड भाव का अवलम्बन करके भी पूर्ण का कुछ ज्ञान रखते हैं—पूर्ण को मूर्त न कर सकने पर भी। किन्तु उनके शिष्यों को वह नहीं मिलता, मूर्त नहीं होने से पोटली बांधते हैं। बाँध रहे हैं तो बांधने दो। देश में जिस दिन भगवान् पूर्ण अवतीर्ण होंगे, उस दिन गठरी अपने आप खुल जाएगी। ये सब अपूर्णता का, कच्ची अवस्था का लक्षण है, उससे मैं विचलित नहीं होता। अध्यात्म-भाव देश में आना चाहिए, चाहे जिस रूप में क्यों न हो, चाहे जितने दल क्यों न बनें—पीछे देखा जाएगा। यह नवयुग का शैशव है या यों कहें कि भ्रूणावस्था है। अभी आभासमात्र है, आरम्भ नहीं।

"इस योग की विशेषता यही है कि सिद्धि कुछ ऊपर न आने से भित्ति भी पक्की नहीं होती। मेरे योग की जो साधना करते हैं, उनमें पहले अनेक पुरातन संस्कार थे, कुछ दूर हो गए हैं, कुछ अभी हैं। पहले (तुम लोगों में) था संन्यास का संस्कार, अरविन्द-मठ स्थापित करना चाहा था, अब (तुम लोगों की) बुद्धि ने मान लिया है कि संन्यास नहीं चाहिए, किन्तु प्राण में से अभी तक उस पुरातन की छाप अभी भी पूर्णतया नहीं गयी है। इसी कारण संसार में रहकर त्यागी संसारी होने की बात कहते हो। तुमने कामना-त्याग की आवश्यकता तो समझ ली है किंतु कामना-त्याग और आनन्द-योग के सामंजस्य को पूर्णतया ग्रहण नहीं कर पाए हो। और तुम लोगों ने मेरे योग को ठीक वैसे लिया था जैसे बंगाली का साधारण स्वभाव होता है—ज्ञान की दृष्टि से उतना नहीं, जितना भक्ति की दृष्टि से, कर्म की दृष्टि से। ज्ञान कुछ-कुछ हुआ है किंतु बहुत-कुछ शेष है और भावुकता का कुहासा नष्ट नहीं हुआ है। तुम लोग सात्विकता के घेरे को पूरी मात्रा में नहीं कह सके हो, अहं अब भी है। संक्षेप में कहें तो यह कि उसका विकास नहीं हुआ है। मुझे भी कोई उतावली नहीं है, मैं तुम लोगों को तुम्हारे स्वभाव के अनुसार विकसित होने दे रहा हूं। मैं सबको एक ही सांचे में ढालना नहीं चाहता। यथार्थ वस्तु ही

सब में एक होगी, नाना प्रकार से नाना रूपों में प्रस्फुटित होगी। सभी भीतर से बढ़ रहे हैं, गठित हो रहे हैं, मैं बाहर से गढ़ना नहीं चाहता। तुम लोगों ने मूल को प्राप्त कर लिया तो और सब आ जाएगा।

"मैं भेद-प्रतिष्ठ समाज नहीं चाहता, आत्मनिष्ठ-आत्मा के ऐक्य की मूर्ति—संघ चाहता हूं। इसी कल्पना को लेकर ही 'देवसंघ' नाम दिया गया है। जो लोग देव-जीवन चाहते हैं, उन्हीं का संघ देवसंघ है। इस प्रकार का संघ एक स्थान में स्थापित करके पीछे सारे देश में फैला देना होगा। इस प्रकार की चेष्टा में जब 'अहं' की छाया पड़ती है तब संघ, दल में परिणत हो जाता है। यह धारणा सहज में हो सकती है कि जो संघ अन्त में दिखाई देगा, यह वही है। शेष होगा इसी एकमात्र केन्द्र की परिधि। जो इसके बाहर हैं वे भीतर के लोग नहीं हैं; अथवा भीतर के होने पर भी भ्रान्त हैं—हमारे वर्तमान भाव से उनका मेल न होने के कारण।

तुम कदाचित कहोगे कि संघ की क्या आवश्यकता है ? मुक्त होकर सब स्थानों में रहेंगे; सब एकाकार होकर रहें, उस विशाल एकाकार में ही जो कुछ भी होना हो वह हो। यह बात सत्य है किन्तु सत्य का केवल एक भाग है। हमारा कार्य केवल निराकार आत्मा के साथ ही नहीं है, जीवन को भी चलाना होगा और मूर्ति के बिना जीवन की प्रभावी गति नहीं है। अरूप जो मूर्त हुआ है, वह नाम-रूप-ग्रहण माया की मनमौज नहीं है, रूप का नितान्त प्रयोजन से ही रूप-ग्रहण किया गया है। हम जगत के किसी भी कार्य को छोड़ना नहीं चाहते; राज-नीति, वाणिज्य, समाज, काव्य, शिल्प, कला, साहित्य इत्यादि सब कुछ रहेगा, इन सबको नवीन प्राण, नवीन आकार देना होगा।

"राजनीति मैंने क्यों छोड़ी है ? क्योंकि हमारी राजनीति भारत की वास्तविक वस्तु नहीं है, विलायती आगन्ता है—विलायती ढंग का अनुकरण मात्र है। अवश्य ही उसकी भी आवश्यकता थी। हमने ही विलायती ढंग की राजनीति चलाई है; यदि न करते तो देश उठता ही नहीं; हमें अनुभव प्राप्त नहीं होता और हमारा पूर्ण विकास भी नहीं होता। अभी भी उसकी आवश्यकता है—बंगाल में उतनी नहीं जितनी भारत के अन्य प्रदेशों में। किन्तु अब समय आ गया है जब छाया का विस्तार न करके वस्तु को पकड़ना होगा, भारत की सच्ची आत्मा को जगाकर उसी के अनुरूप सब कर्मों को करना होगा।

"आजकल लोग राजनीति का आध्यात्मीकरण करना चाहते हैं। उसका फल—यदि कोई स्थायी फल हो तो—एक प्रकार का भारतीय बोलशेविज्म होगा। इस प्रकार के कार्य में भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है, जिसकी जैसी प्रेरणा है, वह वैसा ही करे। परन्तु यह भी यथार्थ वस्तु नहीं है। अशुद्ध रूप में आध्यात्मिक शक्ति ढालना, कच्चे घड़े में कारणोदधि का जल ढालने के समान होगा—या तो

वह कच्ची वस्तु टूट जाएगी, जल गिरकर नष्ट हो जाएगा या आध्यात्मिक शक्ति लुप्त होकर वही अशुद्ध रूप ही रह जाएगा। सभी क्षेत्रों में यही बात है। आध्यात्मिक प्रेरणा मैं दे सकता हूं परन्तु वह शक्ति व्यय होगी शिव मन्दिर में बन्दर की मूर्ति गढ़कर स्थापित करने में। यह संभव है कि वह बन्दर प्राणप्रतिष्ठा के फलस्वरूप शक्तिमान होकर, भक्त हनुमान बनकर, जितने दिन वह शक्ति रहे उतने दिन, राम के बहुत से कार्य करे; किन्तु हम भारत-मन्दिर में हनुमान को नहीं, देवता, अवतार, स्वयं राम को चाहते हैं।

"मैं सब के साथ मिल सकता हूं—किन्तु सब को सच्चे पथ पर खींच लाने के लिए, अपने आदर्श के भाव व रूप को अक्षुण्ण रखते हुए। यदि ऐसा न हो तो मैं पथभ्रष्ट हो जाऊंगा, वास्तविक कार्य नहीं होगा। व्यक्तिगत रूप से सर्वत्र रहते हुए कुछ होगा अवश्य, किन्तु संघ-रूप में सर्वत्र रहते हुए उससे सौ गुना अधिक होगा। अभी उसका समय नहीं आया है। हड़बड़ी करने से ठीक जैसा चाहता हूं, वैसा नहीं होगा। सर्वप्रथम संघ का एक साधारण आरम्भिक रूप होगा; जिन लोगों ने आदर्श पाया है वे ऐक्यबद्ध होकर नाना स्थानों में कार्य करेंगे। बाद में आध्यात्मिक संघ के समान रूप देकर संघबद्ध होकर सब कर्मों को आत्मा के अनुरूप, युग के अनुरूप रूप देंगे—कठोरतापूर्वक बंधा हुआ रूप नहीं, अचलायतन नहीं, स्वाधीन रूप, समुद्र के समान जो फैल सकेगा, नाना रूप ग्रहण कर, इसको घेर कर, उसको प्लावित करके, सब को आत्मसात करते-करते देवजाति तैयार हो जाएगी। यही है मेरी वर्तमान कल्पना जो अभी भी पूर्णतया विकसित नहीं हुई है। सब भगवान् के हाथ में है, वे जो चाहें, कराएं।

"अब तुम्हारे पत्र की कुछ विशेष-विशेष बातों की आलोचना करूंगा। अपने योग के विषय में तुमने जो लिखा है, उस विषय पर मैं इस पत्र में विशेष कुछ नहीं लिखना चाहता, भेंट होने पर उसकी चर्चा करने में सुविधा रहेगी। देह को शव के रूप में देखना संन्यास के निर्वाण-पथ का लक्षण है, इस भाव को लेकर सांसारिक बातें नहीं चल सकतीं। सब वस्तुओं में आनन्द चाहिए जैसा आत्मा में, वैसा ही देह में। देह चैतन्यमय है, देह भगवान् का रूप हैं। जगत में जो कुछ है उसमें भगवान् का दर्शन करने से, 'सर्वमिदं ब्रह्म—वासुदेवः सर्वमिति' यह दृष्टि प्राप्त करने से विश्वानंद प्राप्त होता है। शरीर में भी उसी आनन्द की मूर्त तरंगें उठती हैं। इस अवस्था में अध्यात्म भाव से पूर्ण होकर संसार, विवाह सब कुछ किया जा सकता है, सभी कर्मों में भगवान् का आनन्दमय विकास प्राप्त होता है। मैं अनेक दिनों से मानसिक भूमि में मन के, इन्द्रियों के, सभी विषयों और अनुभूतियों को आनन्दमय कर रहा हूं। अब वह सब अतिमानसिक रूप धारण कर रहा है। इसी अवस्था में सच्चिदानंद का पूर्ण दर्शन और अनुभूति होती है।

"देव संघ की बात कहते हुए तुमने लिखा है—'मैं देवता ही नहीं हूं, बहुत

पीट-पाटकर तेज़ किया हुआ लोहा हूं।' देवता कोई नहीं है, फिर भी प्रत्येक मनुष्य के भीतर देवता है, उसी को प्रकट करना देव-जीवन का लक्ष्य है। ऐसा सभी कर सकते हैं। मानता हूं कि बड़ा आधार भी होता है। तुमने अपने विषय में जो लिखा है, उसे मैं ठीक नहीं समझता। फिर भी आधार चाहे जैसा हो, एक बार यदि भगवान् का स्पर्श हो जाए, आत्मा जाग्रत हो जाए, तो फिर 'बड़ा-छोटा' इनसे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। अधिक बाधाएं हो सकती हैं, अधिक समय लग सकता है, विकास में तारतम्य हो सकता है, इसका कुछ ठीक नहीं है। भीतर का देवता उन सब बाधाओं, न्यूनताओं का हिसाब नहीं रखता, उन्हें हटाकर ऊपर उठता है। मुझ में भी क्या कम दोष थे? मन, चित्त, प्राण तथा देह की क्या कम बाधाएं थी? क्या समय नहीं लगा? भगवान् ने क्या कम पीटा है? दिन पर दिन, मुहूर्त पर मुहूर्त देवता हो रहा हूं या क्या हुआ हूं, यह मैं नहीं जानता, परन्तु कुछ हुआ हूं या हो रहा हूं—भगवान् गढ़ना चाहते हैं, बस यही यथेष्ट है। सब की यही बात है। हमारी शक्ति नहीं, भगवान् की शक्ति ही इस योग की साधिका है।

मैं जो कुछ अनेक दिनों से देख रहा हूं उसी की दो-एक बातें संक्षेप में कहना चाहता हूं। मेरी यह धारणा है कि भारत की दुर्बलता का प्रधान कारण पराधीनता नहीं है, दरिद्रता नहीं है, अध्यात्म बोध या धर्म का अभाव नहीं है, अपितु चिंतन-शक्ति का ह्रास है—ज्ञान की जन्मभूमि में अज्ञान का विस्तार है। सर्वत्र ही देखता हूं, विचार करने की अक्षमता या अनिच्छा अथवा चिंतन-भय का रोग। मध्ययुग में चाहे जैसा रहा हो, परन्तु आजकल तो यह भाव घोर अवनति का लक्षण है। मध्ययुग था रात्रिकाल, अज्ञानी की विजय का दिन। आधुनिक जगत में अब ज्ञान की विजय का युग है। जो जितना अधिक चिंतन करता है, विश्व के सत्य को गहराई में पैठकर सीख सकता है, उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ जाती है। यूरोप को देखो, दो बातें दिखाई देंगी—अनन्त विशाल चिन्तन का समुद्र तथा प्रकाण्ड वेगवती वा सुश्रृंखल शक्ति की क्रीड़ा। यूरोप की समस्त शक्ति यही है; उसी शक्ति के बल से वह जगत को ग्रसने में समर्थ है; हमारे प्राचीन तपस्वियों के समान जिनके प्रभाव से विश्व के देवता भी भयभीत, संदिग्ध तथा वशीभूत रहते थे। लोग कहते हैं कि यूरोप ध्वंस की ओर दौड़ा जा रहा है। मैं इसे ऐसा नहीं मानता। यह जो विप्लव है, यह जो उथल-पुथल मची हुई है—यह सब नवसृष्टि की पूर्वावस्था है।

इसके पश्चात् भारत को देखो। कुछ एकाकी भीमों के अतिरिक्त सर्वत्र ही सीधे सरल मनुष्य हैं अर्थात् सामान्य मनुष्य हैं जो विचार करना नहीं चाहते, विचार कर ही नहीं सकते, जिनमें विंदु मात्र शक्ति भी नहीं है, केवल क्षणिक उत्तेजना है। भारत चाहता है सरल विचार, सीधी बात, यूरोप चाहता है गंभीर विचार, गंभीर बात। वहां साधारण कुली-मज़दूर भी विचार करता है, सब कुछ जानना

चाहता है, मोटे तौर पर जानकर भी संतुष्ट नहीं होता, गहराई में जाकर देखना चाहता है। प्रभेद इतना ही है कि यूरोप की शक्ति और चिंतन की घातक सीमा है। अध्यात्म-क्षेत्र में आकर उसकी चिंतनशक्ति काम नहीं कर पाती। वहां यूरोप को चारों ओर दिखाई पड़ता है गोरखधंधा, कुहासा से आवृत्त तत्त्वशास्त्र, योगजन्य मतिभ्रम। धुएं में आंख रगड़ कर वह कुछ भी निश्चित नहीं कर पाता। अवश्य ही आजकल इस सीमा के भी अतिक्रमण की चेष्टा यूरोप में कम नहीं हो रही है। हममें अध्यात्मबोध है—अपने पूर्वजों के गुणों के कारण। और जिसमें यह बोध है उसके हाथ में ऐसा ज्ञान, ऐसी शक्ति है, जिसकी एक फूंक से यूरोप की समस्त प्रकाण्ड शक्ति तृणवत उड़ सकती है। किन्तु उस शक्ति को पाने के लिए शक्ति की आवश्यकता है। परन्तु इस शक्ति के उपासक नहीं हैं, सहज के उपासक हैं, सहज में शक्ति नहीं होती। हमारे पूर्वजों ने विशाल विचार-समुद्र में तैरकर विशाल ज्ञान प्राप्त किया था, विशाल सभ्यता खड़ी की थी। मार्ग चलते-चलते उनमें अवसाद आ जाने, उनके थक जाने के कारण, विचार का वेग कम हो गया, साथ ही साथ शक्ति का वेग भी कम हो गया। हमारी सभ्यता हो गयी है अचलायतन, धर्म हो गया है बाह्य कट्टरता, अध्यात्मभाव हो गया है एक क्षणिक आलोक अथवा क्षणिक उत्तेजना की तरंग। यह अवस्था जब तक रहेगी, तब तक भारत का स्थायी पुनरुत्थान होना असंभव है।

"बंगाल में ही इस दुर्बलता की चरम अवस्था दिखाई देती है। बंगाली में क्षिप्र बुद्धि है, भाव की सामर्थ्य है, अन्तर्ज्ञान है; इन सब गुणों में वह भारत में श्रेष्ठ है। ये सभी गुण चाहिए किन्तु ये ही यथेष्ट नहीं हैं। इनके साथ यदि चिन्तन की गंभीरता, धीर शक्ति, वीरोचित साहस, दीर्घ परिश्रम की क्षमता और आनंद आकर मिल जाएं तो बंगाली, भारत का ही क्यों, जगत का नेता हो जाएगा। किंतु बंगाली उसे नहीं चाहता, सहज ही काम बना लेना चाहता है, विचार किए बिना ही ज्ञान, परिश्रम किए बिना ही फल, सहज साधन करके ही सिद्धि प्राप्त करना चाहता है। उसका संबल है भाव की उत्तेजना, किन्तु ज्ञानशून्य भाव-अतिशयता ही इस रोग का लक्षण है, उसके बाद अवसाद, तमोभाव। एक ओर तो देश की क्रमशः अवनति हुई है तथा जीवनी-शक्ति का ह्रास हुआ है। अंत में बंगाली अपने देश में किस दशा को पहुंचा है—खाने के लिए अन्न नहीं मिलता, पहनने के लिए वस्त्र नहीं मिलता, चारों ओर हाहाकार मचा है; धन-सम्पत्ति, वाणिज्य-व्यवसाय, जगह-ज़मीन, खेती-बाड़ी तक का दूसरों के हाथों में जाना प्रारम्भ हो गया है। हमने शक्ति-साधना छोड़ दी है, शक्ति ने भी हमें छोड़ दिया है। प्रेम की साधना तो करते हैं परन्तु जहां ज्ञान और शक्ति नहीं, वहां प्रेम भी नहीं रहता, संकीर्णता, क्षुद्रता आ जाती है। क्षुद्र व संकीर्ण मन, प्राण और हृदय में प्रेम का स्थान नहीं। भला प्रेम कहां है बंग देश में? जितना झगड़ा, मनोमालिन्य, ईर्ष्या, घृणा, दलबन्दी इस

देश में है, भेद-क्लिष्ट भारत में अन्यत्र कहीं भी उतना नहीं है।

"आर्य जाति के उदार वीर युग में इतना हो-हल्ला, इतना नाच-कूद नहीं था। जो प्रयास वे आरंभ करते, वह अनेक शताब्दियों तक स्थायी रहता था।

"तुम कहते हो आवश्यकता है भावोन्माद की, देश को मतवाला बना देने की। राजनीतिक क्षेत्र में यह सब मैंने किया था। स्वदेशी के समय जो किया था सब धूल में मिल गया है। अध्यात्म-क्षेत्र में क्या उससे अधिक शुभ परिणाम होगा ? मैं यह नहीं कहता कि कोई भी फल नहीं हुआ है; जितना भी आन्दोलन होता है उसका कुछ फल होता ही है, परन्तु वह फल होता है अधिकांश में संभावनाओं की वृद्धि। स्थिर भाव से कार्यान्वित करने की यह ठीक रीति नहीं है। इसी कारण अब मैं भावोन्माद, भाव, मन को मतवाला बनाने को आधार नहीं बनाना चाहता। अपने योग की प्रतिष्ठा करने के लिए मैं चाहता हूं विशाल वीर-समता, उसी समता में प्रतिष्ठित आधार के अन्दर सभी वृत्तियों से पूर्ण, दृढ़, अविचल शक्ति, शक्ति-समुद्र में ज्ञान-सूर्य की रश्मियों का विस्तार, उसी आलोकमय विस्तार में अनंत प्रेम, आनंद, ऐक्य का स्थिर हर्षोन्माद। लाख-लाख शिष्य मैं नहीं चाहता। एक सौ क्षुद्र-अहं से रहित पूर्ण मनुष्य यदि भगवान् के यंत्र के रूप में मुझे मिल जाएं तो यही यथेष्ट है। प्रचलित गुरुगीरी पर मेरा विश्वास नहीं है, मैं गुरु होना नहीं चाहता। मेरे स्पर्श से जग कर हो, चाहे दूसरे के स्पर्श से जगकर हो, यदि कोई अपने सुप्त देवत्व को प्रकट करे, भागवत जीवन प्राप्त करे, तो बस मैं यही चाहता हूं। ऐसे मनुष्य ही इस देश को ऊपर उठाएंगे।

"इस व्याख्यान को पढ़कर यह मत समझना कि मैं बंगाल के भविष्य के विषय में निराश हो गया हूं। लोग यह कहते हैं कि बंगाल में ही इस बार महाज्योति का विकास होगा, ऐसी आशा मैं भी रखता हूं। अवश्य ही दूसरे पक्ष को भी, कहां दोष, त्रुटि, न्यूनता है, यह देखने की चेष्टा की है। यह सब रहने से वह ज्योति, महाज्योति भी नहीं होगी, स्थायी भी नहीं होगी।

इस असाधारण लम्बे पत्र का तात्पर्य यही है कि मैं भी पोटली ही बांध रहा हूं। परन्तु मेरा विश्वास है कि यह पोटली सेंट पीटर की चादर के समान है। अनंत के जितने भी शिकार हैं, सब इसमें किल-बिल कर रहे हैं। अभी मैं पोटली नहीं खोलूंगा, असमय खोलने से शिकार भाग सकते हैं। देश में भी अभी नहीं जाऊंगा, इसलिए नहीं कि देश तैयार नहीं हुआ है, अपितु इसलिए कि मैं तैयार नहीं हुआ हूं। कच्चा, कच्चों के बीच जाकर क्या काम कर सकता है ? इति।"

श्री अरविन्द का यह पत्र अत्यन्त गंभीर, अत्यन्त प्रभावी तथा आज भी कितना बोधप्रद एवं उपयोगी है, यह सहज ही देखा जा सकता है।

क्रांतिकारियों की भेंट

श्री अरविन्द से मिलने के लिए श्री वारीन्द्र १९२० में ही पांडीचेरी गए भी। अन्य अनेक क्रान्तिकारी भी उनसे मिलने आए थे जैसे श्री उल्लासकर दत्त, अमरेन्द्रनाथ चटर्जी इत्यादि। श्री अमरेन्द्रनाथ चटर्जी उत्तरपाड़ा के निवासी थे और श्री अरविन्द द्वारा क्रांतिकारी कार्य में दीक्षित हो चुके थे। वे अपने श्रद्धेय से मिलने के लिए साधुवेश धारण करके अत्यन्त नाटकीय ढंग से पांडीचेरी पहुंचे थे। जटाजूटधारी, चिमटा और दण्ड से शोभायमान 'स्वामी केवलानन्द' ने कुछ पंजाबी साधुओं के साथ पांडीचेरी पहुंचकर श्री अरविन्द का द्वार खटखटाया और द्वार खोलने वाले को धीरे से अपना परिचय दिया। श्री मोतीलाल राय उन दिनों वहीं थे, वे तत्काल दौड़े आए और श्री अमरेन्द्र ने क्रांतिकारी जीवन में जो छद्मनाम 'गैब्रियल' श्री अरविन्द से पाया था, उसी को बताते हुए श्री मोतीलाल राय ने श्री अरविन्द के कक्ष के द्वार को खटखटाया और कहा : "गैब्रियल आया है।" और श्री अरविन्द ने द्वार खोलकर साश्चर्य कहा—"हे भगवान् !" पंजाबी साधुओं को किसी धर्मशाला में ठहरा दिया गया और बाद में वे विदा भी हो गए। 'स्वामी केवलानन्द' अब केवल श्री अमरेन्द्रनाथ चटर्जी थे—वे अमरेन्द्रनाथ जो बंगाल के प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता थे और जिनको बन्दी बनाने के लिए अंग्रेज़ सरकार दिन-रात प्रयत्न कर रही थी। श्री अमरेन्द्र कुछ दिनों वहीं रहे और जब श्री अरविन्द ने श्री अमरेन्द्र को क्रांतिकारी गतिविधियां त्याने की सलाह दी तो उनका आदेश मानकर श्री अमरेन्द्र नाथ वापस लौटे और कलकत्ते में एक दुकान चलाने लगे।

भारत स्वतंत्र होने की गारंटी

प्रश्न उठ सकता है कि श्री अरविन्द ने श्री अमरेन्द्र नाथ चटर्जी को क्रांतिकारी पथ से विलग होने की सलाह क्यों दी ? इसी प्रकार गुजरात के क्रांतिकारी श्री ए० बी० पुराणी को भी उन्होंने क्रांतिकारी पथ छोड़ने की सलाह दी थी। इसका कारण वही है जो 'वन्देमातरम्' के अपने सहयोगी श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती को उन्होंने बताया था कि स्वयं भगवान ने भारत की स्वतन्त्रता का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है और अब आवश्यकता यह है कि स्वाधीन भारत के लिए निश्चित उद्देश्य और कार्यक्रम बनाने के निमित्त कार्य किया जाए। श्री ए० बी० पुराणी ने इस विषय पर बहुत सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। श्री पुराणी उनसे दिसम्बर १९१८ में अपने क्रांतिकारी दल की गतिविधियों के सम्बन्ध में सलाह लेने गए थे क्योंकि यह वृक्ष श्री अरविन्द द्वारा बड़ौदा में बोए गए बीज का ही १० वर्षों में विकसित परिणाम था। किन्तु श्री अरविंद ने उनसे साधना-सम्बन्धी प्रश्न किए। श्री पुराणी ने कहा—"साधना तो ठीक है, किन्तु जब तक भारत स्वतन्त्र न हो

जाए, तब तक उस पर चित्त एकाग्र करना कठिन है।" श्री अरविन्द ने कहा—"संभवतः भारत को स्वतन्त्र करने के लिए क्रांतिकारी गतिविधि की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।" तब श्री पुराणी ने पूछा था—"किन्तु बिना उसके भारत से ब्रिटिश सरकार जाएगी ही कैसे ?" श्री अरविन्द ने इस प्रश्न को यह कह कर टाल दिया कि यह दूसरी बात है और फिर कहा—"किन्तु यदि क्रांतिकारी गतिविधि के बिना स्वतन्त्र हो सकता है तो तुम उसकी योजना क्यों करो ? यह अधिक अच्छा होगा कि योग पर एकाग्र हो जाओ।" तब श्री पुराणी ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा था—"किन्तु भारत एक ऐसा देश है जिसके रक्त में साधना का गुण है। जब भारत स्वतन्त्र हो जाएगा तो निश्चित ही सहस्रों योग में प्रवृत्त हो जाएंगे। किन्तु वर्तमान विश्व में दासों से सत्य या आध्यात्मिकता का उपदेश कौन सुनेगा ?" यह एक महत्वपूर्ण बात थी जिसका श्री अरविन्द ने अत्यन्त शांति से उत्तर दिया—'भारत ने पहले से ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति का निश्चय कर लिया है और इस कारण अवश्य ही उस लक्ष्य के लिए काम करने वाले नेता और व्यक्ति मिल जाएंगे। किन्तु योग के लिए सब का आह्वान नहीं किया जाता। अतः, जब तुम्हें योग के लिए आह्वान मिला है, तो क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि तुम उसपर एकाग्र हो जाओ ? यदि तुम क्रांतिकारी आन्दोलन चलाना चाहो तो उसके लिए स्वतंत्र हो, किन्तु मैं इसके लिए अपनी सहमति नहीं दे सकता।"

इस पर श्री पुराणी ने उनसे पूछा था कि उन्होंने ही जिस क्रांतिकारी कार्य की प्रेरणा दी थी, उसी को सहमति देने में क्यों आपत्ति कर रहे हैं ? श्री अरविन्द ने तब जो कुछ कहा वह क्रांतिकारी आन्दोलन में उनके अनुभव का सार था। उनके शब्द थे—"क्योंकि मैंने यह कार्य किया है और मैं इसकी कठिनाइयां जानता हूं। आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए आदर्शवाद और उत्साह से प्रेरित युवक बढ़ते हैं। किन्तु ये तत्त्व अधिक समय तक नहीं टिकते। अनुशासन को मानना और उसे बनाए रखना कठिन हो जाता है। संगठन में छोटे-छोटे गुट बनने लगते हैं, इन गुटों में और व्यक्तियों में विद्वेष बढ़ने लगता है। नेतृत्व के लिए प्रतिस्पर्द्धा होती है। सरकार के एजेंट प्रायः इन संगठनों में प्रारम्भ से ही प्रवेश पाने की जोड़-तोड़ कर लेते हैं। और इस कारण ये संगठन प्रभावी रूप में कार्य कर पाने में असमर्थ होते हैं। कभी-कभी वे इतने नीचे गिर जाते हैं, कि धन को लेकर झगड़ने लगते हैं।" किन्तु श्री पुराणी को मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए सच्ची तड़प थी और उन्होंने इसे प्रकट करते हुए कहा कि पिछले ढाई वर्षों से उन्हें इसी चिन्ता के कारण ठीक से नींद भी नहीं आ सकी है, तब साधना का तो प्रश्न ही क्या ? श्री अरविन्द ने दो-तीन मिनट तक शांत रहने के पश्चात् गंभीरता से कहा—"मान लो कि तुम्हें यह विश्वास दिला दिया जाए कि भारत स्वतन्त्र हो जाएगा।" श्री पुराणी ने पूछा कि यह आश्वासन दे ही कौन सकता है। श्री अरविन्द ने तीन-चार मिनट



तक मौन रहकर उन्हें गंभीरता से देखकर कहा—"मान लो, मैं तुम्हें यह आश्वासन दूं तो ?" श्री पुराणी ने कहा कि तब वे मान लेंगे और तब श्री अरविन्द ने स्पष्ट और गंभीर वाणी से कहा थ—"तो मैं तुम्हें आश्वासन देता हूं कि भारत स्वतंत्र हो जाएगा।" उस समय तो श्री पुराणी का समाधान हो गया किन्तु कुछ समय और चर्चा करने के उपरान्त विदा लेते समय उन्होंने श्री अरविन्द से फिर पूछा — "क्या आपको पूर्ण विश्वास है कि भारत स्वतन्त्र हो जाएगा ?" यह एक प्रकार से गारंटी की मांग थी और श्री अरविन्द ने मेज़ पर मुट्ठी बांधकर पूर्ण निश्चय की मुद्रा में, जिसमें अविचलता थी ही नहीं, कहा—"हां, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि यह इतना ही निश्चित है जैसे कल का सूर्योदय। निर्णय किया जा चुका है, इसे कार्यान्वित होने में अधिक समय नहीं लगेगा।"

श्री पुराणी पूर्णतया आश्वस्त हो गए थे। ईश्वर से प्रत्यक्ष सम्बद्ध महायोगी ही ऐसी गारंटी दे सकता है।

डा० मुंजे और डा० हेडगेवार के प्रयत्न

श्री अरविन्द को राजनीति में वापस लाने के लिए लोकमान्य तिलक आदि के विफल प्रयत्नों के उपरान्त भी डा० बी० एस० मुंजे और डाक्टर केशव बलीराम हेडगेवार के प्रयत्नों का भी उल्लेख आवश्यक है। श्री मुंजे कांग्रेस के एक प्रभावी राष्ट्रवादी नेता थे, श्री अरविन्द, तिलक, मुंजे आदि एक साथ काम कर चुके थे। डा० मुंजे के एक सहयोगी थे डाक्टर केशव बलीराम हेडगेवार जो एक महान प्रतिभाशाली और अलौकिक गंभीरता वाले नेता थे। वे कांग्रेस और क्रान्तिकारी गतिविधियों से तो सम्बद्ध रहे ही थे, बाद में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ नामक विशाल हिन्दू संगठन के प्रवर्तक भी बने। डा० मुंजे का प्रयत्न था कि श्री अरविन्द पुनः राष्ट्रवादी नेतृत्व ग्रहण करें और नागपुर कांग्रेस की अध्यक्षता करें। किन्तु श्री अरविन्द ने स्वीकार नहीं किया। डा० मुंजे को अगस्त १९२० में लिख गए एक पत्र में उन्होंने अपनी अस्वीकृति इस प्रकार दी थी —

'जैसा मैंने आपको तार द्वारा पहले ही सूचित कर दिया है, मैं नागपुर कांग्रेस की अध्यक्षता के आपके प्रस्ताव को स्वीकार करने में स्वयं को असमर्थ पाता हूं। स्वयं राजनीतिक क्षेत्र में ही ऐसे कारण हैं जो हर दशा में मेरे मार्ग के बाधक होंगे। सर्वप्रथम कांग्रेस के सिद्धान्त में व्यक्तिगत विश्वास की घोषणा के लिए न तो कभी मैंने हस्ताक्षर किए हैं और न कभी करूंगा, क्योंकि मेरा अपना सिद्धान्त उससे भिन्न प्रकार का है। दूसरी बात यह है कि ब्रिटिश भारत त्यागने के समय से ऐसे दृष्टिकोण और विचारों का मैंने विकास किया है जो उस समय के मेरे दृष्टिकोण और विचारों की अपेक्षा बहुत भिन्न हो गए हैं और चूंकि वे वर्तमान वास्तविकताओं से दूर के हैं और राजनीतिक कार्य की वर्तमान धारा का अनुसरण नहीं करते,

अतः कांग्रेस से क्या कहना है, इस विषय में मैं स्वयं को बड़ी कठिनाई में पाऊंगा। भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उद्देश्य से जो कुछ किया जा रहा है उसके प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति है किन्तु मैं किसी भी दल के कार्यक्रम से एकरूप होने में असमर्थ हूं। कांग्रेस का अध्यक्ष तो कांग्रेस का प्रवक्ता होने के लिए बाध्य है और अध्यक्ष पद से एक नितान्त वैयक्तिक घोषणा करना जो कांग्रेस के चिन्तन व कार्य से मीलों दूर की हो, अत्यन्त भद्दा व अनुपयुक्त होगा। न केवल इतना ही, अपितु आजकल तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और कांग्रेस की वर्ष विशेष में नीति तथा आने वाले अन्य आकस्मिक प्रसंगों की दृष्टि से अध्यक्ष का उत्तरदायित्व होता है जिसे—मेरी वैधानिक आपत्ति और संभवतः किसी प्रकार के पदीय कर्त्तव्यों को पूरा करने या किसी प्रकार की कार्यसंलग्नता को स्वीकार करने की असमर्थता के अतिरिक्त—मैं पूर्ण करने में असमर्थ रहूंगा, क्योंकि अपने निर्धारित कार्यक्रम को अकस्मात दूर फेंक देना और तत्काल ब्रिटिश भारत में जा बसना मेरे लिए असंभव है। हर दशा में ये कारण तो मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार करने में बाधक रहेंगे ही।

'प्रमुख सत्य यह है कि अब मैं पहले और सर्वप्रथम राजनीतिज्ञ नहीं रह गया हूं अपितु मैंने आध्यात्मिक आधार पर अन्य प्रकार का ही एक कार्य प्रारम्भ कर दिया है—आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पुनर्रचना का प्रायः क्रांतिकारी प्रकार का एक कार्य। और एक प्रकार का व्यावहारिक या प्रयोग-शालागत प्रयोग का संचालन इस रूप में कर रहा हूं कि उसमें मेरे सम्पूर्ण ध्यान और शक्ति की आवश्यकता है। प्रचलित प्रकार के राजनीतिक कार्य को और इसे प्रारम्भ में सम्मिलित चला पाना मेरे लिए असंभव है। मुझे वस्तुतः इसे त्याग ही देना पड़ेगा और यह मैं नहीं कर सकता क्योंकि इसे मैंने शेष जीवन के लक्ष्य के रूप में अपना लिया है। आपके आह्वान का उत्तर देने में मेरी असमर्थता का यही सच्चा कारण है।

"मैं कह सकता हूं कि कुछ भी हो, आपने तिलक के स्थान पर अपने प्रमुख के रूप में स्थान लेने के लिए मुझ से कहकर एक गलत चुनाव किया है। उस स्थान को लेने के लिए भारत के जीवित व्यक्तियों में से—या कम से कम जो व्यक्ति ज्ञात हैं उनमें से—कोई भी समर्थ नहीं है, मैं तो सब से कम। मैं पूर्ण आदर्शवादी हूं और तभी उपयोगी हो सकता हूं जब कोई उग्र कार्य करना हो, कोई मूलभूत या क्रांतिकारी मोड़ लेना हो (मेरा तात्पर्य हिंसा द्वारा क्रांतिकारी नहीं है), कोई ऐसा आन्दोलन जिसको प्रेरित व संगठित करने के लिए आदर्श उद्देश्य और प्रत्यक्ष विधि हो। निस्सन्देह तिलक की 'दायित्वपूर्ण सहयोग' की नीति, जिसमें जब आवश्यक हो तभी आन्दोलन और प्रतिरोध होता था—और वह वर्तमान परिस्थितियों में बहुधा होगा—, निष्क्रिय प्रतिरोध के असहयोग के रूप का एकमात्र विकल्प है। किन्तु इसको प्रभावी बनाने के लिए प्रमुख के नाते ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता

है जिसमें उनके लचीलेपन, चतुराई तथा दृढ़ता का समुच्चय हो। मुझमें लचीलापन और चतुराई नहीं है—कम से कम जिस प्रकार की आवश्यकता है—और केवल दृढ़ता दिखा सकता हूं, यदि मैं नीति को स्वीकार कर लूं, जो मैं व्यवहारत: करूंगा ही नहीं, जैसे कुछ अपने कारणों से नयी कौंसिलों में प्रवेश करने को मुझे कोई भी प्रवृत्त नहीं कर सकता। दूसरी ओर, पंजाब के कुछ अधिकारियों को दंडित कराने या मृत और समाप्त तुर्की साम्राज्य को पुनः लाने मात्र के लिए असहयोग के विशाल आन्दोलन से तो मेरे समानुपात-सम्बन्धी ज्ञान और सहजज्ञान दोनों को ही धक्का लगता है। मैं तो इसे 'सरकार को परेशान' करने के एक साधन के रूप में और तात्कालिक परेशानियों को इसलिए पकड़ने के रूप में समझ सकता हूं कि मिस्र व आयरलैण्ड के सदृश स्वशासन के लिए एक प्रचण्ड संघर्ष छेड़ा जाए। फिर भी, यह तो कांग्रेस के सिद्धान्त, कार्य, संगठन और नीति के ऐसे पूर्ण परिवर्तन को सम्मिलित करने वाले कार्यक्रम से ही हो सकता है—जिससे कांग्रेस राष्ट्रीय पुनर्रचना का, न कि केवल राजनीतिक आन्दोलन का केन्द्र बने—कि मैं राजनीतिक क्षेत्र में (यदि वह अन्य कारण न हो जो मैंने कहा है) प्रवेश करता, किन्तु दुर्भाग्य से कांग्रेस की पिछली विधियों से निर्मित राजनीतिक मन और स्वभावों से यह इस समय व्यवहार्य नहीं है। मैं समझता हूं कि आप देखेंगे कि इन विचारों को रखते हुए मेरे लिए बीच में पड़ना संभव नहीं है और अध्यक्ष-पद पर जाना तो बिलकुल ही नहीं।

"मेरी सम्मति में तो कांग्रेस की सफलता किसी एक व्यक्ति की, और ऐसे व्यक्ति की, जो बहुत समय से अज्ञातवासी है, उपस्थिति पर निर्भर नहीं है। जिन मित्रों ने मुझे निमंत्रित किया है, वे यह सोचने में त्रुटि पर हैं कि नागपुर कांग्रेस मेरे बिना प्रेरणाहीन रहेगी। अवश्य ही राष्ट्रीय आन्दोलन अब इतना सशक्त है कि अपने ही विचार द्वारा प्रेरित हो सकता है, विशेषत: वर्तमान जैसे महत्त्वपूर्ण समय पर। मुझे निराश करने पर खेद है; किन्तु बाध्य करने वाले कारण मैंने बता दिए हैं और मैं नहीं समझ पा रहा हूं कि यह कैसे परिहार्य है।"

फिर भी, अक्तूबर, १९२० में डा० मुंजे और उनके साथ ही डा० केशव बलीराम हेडगेवार ने पांडीचेरी की यात्रा कर श्री अरविन्द को सहमत करने का प्रयत्न किया। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए गांधी जी द्वारा रखे गए अहिंसात्मक असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार करने से कांग्रेस को बचाने के लिए श्री अरविन्द जैसे प्रभावी एवं उग्र नेतृत्व की आवश्यकता थी, किन्तु श्री अरविन्द अपनी बात पर दृढ़ बने रहे। निस्सन्देह देश को उनकी राजनीतिक अनुपस्थिति से अपरिमित हानि पहुची, किन्तु क्या उनकी आध्यात्मिक साधना ने देश को अपरिमित लाभ नहीं पहुंचाया? यह लाभ-हानि का ऐसा प्रश्न है जिसका यथार्थ उत्तर इतिहासविद् आज नहीं दे सकते।

सान्ध्य वार्ताएं

१९२३ से १९२६ के मध्य श्री अरविन्द द्वारा सायंकाल के समय मुख्यतया शिष्यों एवं कुछ आगन्तुकों से जो बातचीत समय-समय पर तथा विविध विषयों पर की गई, उसका एक सुन्दर विवरण श्री पुराणी ने 'ईवनिंग टाक्स' के प्रथम व द्वितीय खण्डों में प्रकाशित कर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इन वार्ताओं की चर्चा आगामी पृष्ठों में की जाएगी। किन्तु उनसे पूर्व श्री अरविन्द की उस विशिष्ट सिद्धि की चर्चा आवश्यक है जिसके कारण श्री अरविन्द-आश्रम में सिद्धि-दिवस एक नया पर्व बन गया।

८. सिद्धि-दिवस

साधना का विकास

श्री अरविन्द ने अपने बड़ौदा-जीवन में ही साधना का प्रारंभ कर दिया था, यह सुप्रसिद्ध है। उनकी राजनीति भी आध्यात्मिक साधना का एक अंग थी, वह राष्ट्रात्मा से एकता की अनुभूति का परिणाम थी। गीता और उपनिषदों के गंभीर प्रभाव ने तथा प्राणायाम की साधना के साथ-साथ सुव्यवस्थित ब्रह्मचर्य-साधना ने उन्हें उच्चतर साधना के योग्य बनाया और 'वासुदेवः सर्वमिति' (यह सब कुछ भगवान ही है) की अनुभूति उन्होंने अलीपुर जेल में कर ली थी। अतिमानस के विषय में तथा अन्य गंभीर एवं ऊंचे कठिन आध्यात्मिक विषयों पर उन्हें अलौकिक सहायता स्वामी विवेकानन्द आदि की दिव्य चेतनाओं से मिली थी, यह उन्होंने स्वयं स्वीकारा है।

साथ ही यह कहना भी आवश्यक है कि उनका अपना व्यक्तित्व, संभवतः पूर्वजन्मों के कर्मों के परिणामस्वरूप ही, उच्चतर साधना के लिए पहले से ही अधिक उपयुक्त था क्योंकि उन्होंने साधना को विधिवत प्रारंभ करने से पूर्व भी कुछ अलौकिक अनुभव प्राप्त किए थे। उन्हींके शब्दों में—"·· हां, जिस वर्ष इंग्लैंड से मैंने प्रस्थान किया उस वर्ष कुछ अनुभूति अवश्य हुई थी, यद्यपि तब तक मैंने योग आरंभ नहीं किया था, न उसके विषय में कुछ जानता ही था।" इसके बाद की महत्त्वपूर्ण घटना अपोलो बन्दरगाह पर उतरते ही (फरवरी १८९३) अपने चारों ओर व अन्दर विशाल शान्ति छा जाने की तथा आगे के कुछ मास तक बने रहने की है। पुनः १९०१ में अपनी घोड़ागाड़ी की दुर्घटना को बचाने के लिए उनके द्वारा संकल्पशक्ति का प्रयोग तथा ज्योतिर्मय पुरुष उनके अन्दर से प्रकट होने आदि की चमत्कारी घटना ही 'दी गाडहेड' कविता का बीज बन गई थी। बाद में तो तख्त-ए-सुलेमान अर्थात् श्रीनगर स्थित शंकराचार्य-पर्वत पर अनन्त शून्य को सर्वत्र व्याप्त करते हुए देखने की उनकी अनुभूति और भी अधिक प्रभावी हुई, जिसकी छाप उनकी 'अद्वैत' तथा 'दि हिलटाप टेम्पल' शीर्षक कविताओं में देखी जा सकती है। इसके पश्चात् नर्मदा नदी के तट पर एक काली

मन्दिर में सहसा भगवती का दर्शन होने अर्थात् देवी की मूर्ति मात्र देखने के स्थान पर साक्षात् शक्ति को सजीव रूप में देखने का अनुभव भी उन्हें गंभीरता से प्रभावित कर गया था। उससे पहले वे मूर्तिपूजा आदि को महत्त्व नहीं देते थे, किन्तु कब उनका मनोभाव विभिन्न प्रकार का हो गया। इसी घटना से पहली बार उन्हें ईश्वर की 'उपस्थिति' में दृढ़ विश्वास हुआ था।

स्वामी ब्रह्मानन्द के एक इंजीनियर शिष्य श्री देवधर से प्राणायाम सीखने के परिणामस्वरूप सुदृढ़ स्वास्थ्य, असीमित जीवनशक्ति तथा कुछ सूक्ष्म अनुभवों ने उन्हें योगसाधना की ओर विशेष आकृष्ट किया था। कालान्तर में सूरत कांग्रेस के अवसर पर महाराष्ट्रीय योगी श्री लेले से बड़ौदा में उन्होंने जो कुछ पाया उसने उन्हें एक अद्‌भुत दिशा में आगे बढ़ा दिया, जिसका स्वयं श्री लेले को भी अनुमान नहीं था।

श्री अरविन्द ने अनेक बार इस प्रसंग पर कुछ कहा या लिखा था, यथा—"मेरे अन्तर्जीवन को सबसे पहले एक निश्चित दिशा में मोड़ने का श्रेय एक ऐसे व्यक्ति को है जो बुद्धि, शिक्षा एवं क्षमता में मुझसे अनन्त रूप में हीन कक्षा के थे, और आध्यात्मिक दृष्टि से किसी प्रकार पूर्ण या सर्वश्रेष्ठ नहीं थे। परन्तु जब मैंने देखा कि उनके पीछे एक शक्ति विद्यमान है और मैंने सहायता के लिए उनकी ओर मुड़ने का निश्चय किया तब मैंने पूर्ण रूप से अपने को उनके हाथों में सौंप दिया तथा यांत्रिक निष्क्रियता के साथ उनके मार्गदर्शन का अनुसरण किया।···फलस्वरूप मेरे अन्दर-अन्दर एक के बाद एक मौलिक ढंग के रूपान्तरकारी परिवर्तन होने लगे कि उन्हें समझना उनकी सामर्थ्य से बाहर हो गया और उन्होंने विवश होकर मुझसे कहा कि आगे के लिए मैं, वैसे ही पूर्ण समर्पण के साथ, जैसा मानवीय माध्यम के प्रति प्रदर्शित किया है, अपने-आपको अपने अन्तःस्थ गुरु के प्रति समर्पित कर दूं।" श्री अरविन्द ने इसी बात को अन्यत्र आगे बताते हुए कहा था—"यह एक ऐसा सिद्धान्त या एक ऐसी बीजभूत शक्ति थी जिसे मैंने अडिग रूप से तथा अधिकाधिक निष्ठा के साथ पकड़े रखा जब तक कि यह मुझे एक ऐसे अपरिमेय यौगिक विकास के चक्रों में से गुज़ारती हुई, जो किसी एक ही विधि-विधान या पद्धति या मत-मतान्तर या शास्त्र-परम्परा से बंधा हुआ नहीं था, वहां तक नहीं ले आई जहां और जो कुछ भी मैं आज हूं और साथ ही उसकी ओर भी नहीं ले गई जो अभी आगे मैं बनूंगा।" वर्ष १९३२ की इन उक्तियों में बड़ा सार है।

श्री अरविन्द की अपनी साधना में समर्पण, एकाग्रता और पवित्रता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। स्वयं भगवान ही उनके गुरु थे और उनके लिए सम्पूर्ण जीवन ही योग था। वे योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे और योग की साधना करते-करते वे स्वयं महायोगी बन गए—योग के एक नए आचार्य, एक नए पथ के उद्‌घाटक, एक नयी पद्धति के प्रवर्तक। किंतु इस योग-साधना का व्यवस्थित रूप

चन्द्रनगर व पांडीचेरी में ही सामने आया। उन्होंने हिंदू धर्म के महान सत्यों का साक्षात्कार कर लिया था और अलीपुर जेल के अनुभव के उपरान्त वे एक उच्च-स्तरीय आध्यात्मिक पुरुष तो हो ही गए थे। वे चाहते तो उसी पर संतोष कर सकते थे किंतु उनके जीवन में 'आगे बढ़ो' का जो सिद्धान्त काम करता रहा उसीने उन्हें जैसे एक के बाद दूसरे नए विकास-पथ पर बढ़ाया था, वैसे ही साधना के क्षेत्र में भी बढ़ाया।

साधना का नया उद्देश्य

जिस योग-साधना को उन्होंने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए विशिष्ट शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रारंभ किया था, उसी योग-साधना ने उन्हें राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम में सफलता का ईश्वरीय आश्वासन दिलाकर एक विशालतर स्वातंत्र्य-संग्राम की ओर प्रेरित कर दिया। यह संग्राम था मानव का स्वातंत्र्य-संग्राम, मन से ऊपर उठकर विज्ञान-चेतना के स्तर तक पहुंचने का संघर्ष, अपनी प्रकृति को जीतकर उच्चतर जीवन, दिव्य जीवन, भागवत जीवन में जीने वाले देव-संघ को पृथ्वी पर उपस्थित करने अर्थात् पृथ्वी पर स्वर्ग को साकार करने का संघर्ष अर्थात् मानव को अतिमानव में विकसित करने की साधना के लिए आत्म-यज्ञ का आयोजन। और श्री अरविन्द ने ईश्वरीय आदेश के अनुसार विज्ञान अर्थात् अतिमानस को पृथ्वी पर लाने के लिए जो कुछ किया, वह एक महान प्रयास है, एक महान आध्यात्मिक युग का शिलान्यास है, एक महान भवन की नींव डालना है।

श्री अरविन्द की दिव्य साधना

इसके पहले उन्हें कोई विशेष कठिनाइयां नहीं आई थीं क्योंकि उसमें वह करना था जो पहले किया जा चुका था और जिसका शास्त्रों में खुला वर्णन मिलता है। किंतु अब जो करना था वह एक ऐसा कार्य था जिसका स्पष्ट वर्णन शास्त्रों में नहीं है, जिसे पहले के महापुरुषों ने किया ही हो, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख या प्रमाण नहीं मिलता। श्री अरविन्द के शब्दों में ही कहें तो "एक मात्र सच्ची कठिनाई, जिसे पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने में उन्हें दशाब्दियों तक आध्यात्मिक पुरुषार्थ करना पड़ा, वह थी—आध्यात्मिक ज्ञान को इस जगत तथा ऊपरी मानस-क्षेत्र एवं बाह्यजीवन पर सर्वांगीण रूप से प्रयुक्त करना और जीवन को प्रकृति के उच्चतर स्तरों तथा साधारण मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक स्तरों पर, नीचे अवचेतना एवं मूल निश्चेतना-पर्यंत, रूपान्तरित करना और साथ ही ऊपर के उस परम सत्य-चेतना या अतिमानस के स्तर पर्यन्त भी इसका रूपान्तर करना जिसमें पहुंचने पर ही सक्रिय रूपान्तर पूर्ण रूप से अपनी सर्वांगीण एवं चरमावस्था को प्राप्त कर सकता है।"

श्री अरविन्द अपनी साधना में वैज्ञानिक पद्धति से एक-एक अनुभव को परखते हुए आगे बढ़े थे। उन्होंने देखा था कि उनमें से कौन से अनुभव ऊर्ध्व चेतना के हैं और कौन से अधः चेतना के। उन्होंने देखा था और पहचाना था कि प्रत्येक अनुभव कितना ठीक स्वीकार किया जा सकता है और पूर्ण की योजना में उसका स्थान कहां पर है। उन्हें अनुभूतियों को, विचारों को, अन्य पढ़े-देखे-सुने सबको सुसम्बद्ध करने का मार्ग अपनाया था। उन्होंने विश्लेषण और संश्लेषण की दोहरी प्रक्रिया ईमानदारी से अपनाई थी। उनके लिए सभी अनुभव ग्राह्य थे, सभी विचार मूल्यवान थे—पूर्ण की योजना में प्रत्येक अपूर्ण का अपना महत्त्व है किन्तु उस महत्त्व को पहचानना, परखना, यह सरल नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह विशाल वैज्ञानिक ढंग का कार्य उनसे पहले भी बहुतों ने किया होगा किन्तु श्री अरविन्द ने जितने सुव्यवस्थित ढंग से यह सब लिखित रूप में या अपनी वाणी के रूप में (और शिष्यों के माध्यम से लिखित रूप में) विश्व को दिया, वह आश्चर्यजनक है। उनकी लोकयात्रा में चेतना की यात्रा का यह ऊपरी तल पर न दीख पड़ने वाला पक्ष ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है क्योंकि यहां आन्तरिक ज्ञान और अनुभूति के द्वारा विश्व-भर के आंतरिक ज्ञान और अनुभूति को परखने की महती प्रयोगशाला पूरे चालीस वर्ष तक सक्रिय रही।

श्री अरविन्द ने जिस 'रूपान्तर' को अपना ध्येय बनाया था वह न तो तांत्रिक सिद्धियों और न सिद्धों के चिन्मय शरीर जैसा ध्येय था। उनके अपने शब्दों में—"'रूपान्तर' शब्द मैं विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता हूं। वह अर्थ है चेतना का आमूलचूल, पूर्ण और एक विशिष्ट प्रकार का परिवर्तन जिसकी कल्पना इस प्रयोजन के लिए की गई है कि वह जीव के आध्यात्मिक विकास में एक दृढ़ तथा निश्चित कदम बढ़ाने वाला होगा। प्राणमय और अन्नमय-प्राणमय जगत में पहली बार मनोमय जीव के प्रकट होने पर जो विकास हुआ था, उसकी अपेक्षा यह आध्यात्मिक विकास अधिक महान एवं उच्च कोटि का होगा और इसका क्षेत्र एवं पूर्णत्व अधिक विशाल होंगे।" उन्होंने आगे लिखा था—"यदि इस विकास से कम कोई चीज़ घटित हो या कम से कम इसके आधार पर एक वास्तविक आरम्भ न हो, इस परिपूर्णता की ओर कोई आधारभूत प्रगति न हो तो मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।"

श्री अरविन्द 'आध्यात्मिक रूपान्तर' चाहते थे, मोक्ष या निर्वाण नहीं। उनके योग का यही विशिष्ट लक्ष्य अन्य योगों से उसकी अधिकता सिद्ध करता है। आत्मा की मोक्ष ही अन्य सब योगियों का लक्ष्य रहा है, सब योग पद्धतियों का उद्देश्य भी। किन्तु महायोगी श्री अरविन्द ने इस लक्ष्य को पीछे छोड़ दिया था, मोक्ष तो हो ही सकता है किन्तु उससे सम्पूर्ण सृष्टि को क्या लाभ होगा? उन्होंने लिखा था—"...रूपान्तर जिस प्रकार इस योग का प्रधान लक्ष्य है उसी प्रकार वह

दूसरे मार्गों का नहीं है—वे तो केवल उतने ही पवित्रीकरण एवं परिवर्तन की मांग करते हैं जितना मुक्ति तथा पारलौकिक जीवन प्राप्त करने के लिए सहायक हो।" किन्तु श्री अरविन्द के रूपान्तर का अर्थ है "नीचे अवचेतना पर्यन्त, सत्ता के प्रत्येक अंग में, क्रियाशील और स्थितिशील आध्यात्मिक चेतना को धारण करना।"

श्री अरविन्द के योग में न तो भौतिक रूपान्तर का महत्त्व है न आध्यात्मिक पवित्रता मात्र का अपितु अतिमानसिक अवतरण का ही लक्ष्य है। "साधारण योग आध्यात्मिक मन से परे नहीं जाता—लोग मूर्धा के शिखर पर ब्रह्म से योग अनुभव करते हैं परन्तु उन्हें शिर से ऊपर की चेतना का पता नहीं होता।...प्राचीन योगी जब आध्यात्मिक मन से ऊपर जाते तो वे समाधि में लीन हो जाते जिसका अर्थ यह है कि वे उन उच्चतर स्तरों में सचेतन होने का प्रयत्न नहीं करते थे—उनका लक्ष्य होता था अति चेतन में प्रविष्ट होना न कि उसे जाग्रत चेतना में उतार लाना जो कि मेरे योग का ध्येय है।"

श्री अरविन्द को अपने योग के लक्ष्य की इतनी स्पष्ट कल्पना थी कि देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। अपने एक शिष्य को अप्रैल १९३५ में उत्तर देते हुए लिखा था—"दिव्य चेतना के नाना स्तर हैं। रूपान्तर के भी नाना स्तर हैं। पहला है चैत्य रूपान्तर, जिसमें सब कुछ व्यक्ति की चैत्य चेतना के द्वारा भगवान के सम्पर्क में रहता है। दूसरा है आध्यात्मिक रूपांतर जिसमें सब कुछ वैश्व चेतना के भीतर जाकर भगवान में मिल जाता है। तीसरा है अतिमानसिक रूपान्तर जिसमें सब कुछ दिव्य विज्ञान चेतना में जाकर अतिमानसीकृत हो जाता है। इस पिछले रूपान्तर से ही मन, प्राण और शरीर का 'पूर्ण' रूपान्तर—पूर्णता के मेरे अर्थ में—आरम्भ हो सकता है।" श्री अरविन्द ने उस साधक को यह भी बताया था कि उनके विश्वास के अनुसार पहले कुछ योगियों ने इसे अवश्य ही "योगसिद्धि के द्वारा रक्षित एक वैयक्तिक सिद्धि के रूप में" उपलब्ध किया होगा किन्तु "प्रकृति के धर्म (भौतिक सत्ता के रूपान्तर) के रूप में नहीं। श्री अरविन्द ने अतिमानसिक रूपान्तर को 'मानसिक रूपान्तर', 'अधिमानसीय-आध्यात्मिक रूपान्तर' इत्यादि से भिन्न बताया था। उसी साधक को उन्होंने विभिन्न आध्यात्मिक महापुरुषों की चर्चा उठाने पर लिखा था—"जिन व्यक्तियों का तुमने उल्लेख किया है, वे सभी आध्यात्मिक थे परन्तु भिन्न-भिन्न रूपों में। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण का मन अधि-मानस-भावापन्न (ओवरमेण्टलाइज्ड) था, रामकृष्ण का अंतःप्रज्ञातमक (इन्ट्यु-टिव), चैतन्य का आध्यात्म-चैत्य (स्प्रिच्युअल साइकिक), बुद्ध का संबुद्ध उच्चतर मानसिक (इल्युमिण्ड हायर मेंटल)।.. ये सभी अतिमानसिक रूपान्तर से भिन्न हैं।"

श्री अरविन्द ने नया योग-पथ आविष्कृत या उद्घाटित किया अवश्य किन्तु वे पुराने योगों की निन्दा करने को मूर्खता मानते थे। अपने एक शिष्य को उन्होंने

लिखा था—"पुराने योगों की इस प्रकार की निन्दा करना कि वे सर्वथा सुगम, महत्त्वहीन एवं निरर्थक हैं तथा बुद्ध एवं याज्ञवल्क्य की और भूतकाल के अन्य आध्यात्मिक महापुरुषों की निन्दा करना—क्या यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में एक मूर्खतापूर्ण कार्य नहीं है ?" अन्यत्र उन्होंने लिखा था—"पुराने योगों और योगियों के सम्बन्ध में यह विचित्र मनोवृत्ति तुम्हें कहां से प्राप्त हुई ? क्या वेदांत और तंत्र का ज्ञान कोई छोटी एवं तुच्छ वस्तु है ? तब क्या इस आश्रम के साधक आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर चुके हैं और क्या वे जीवन्मुक्त हो गए हैं, अहंता और अज्ञान से मुक्त हो चुके हैं ? यदि नहीं, तो तुम ऐसा क्यों कहते हो कि यह कोई दुष्प्राप्य अवस्था नहीं है, 'उनका लक्ष्य उच्च नहीं है', 'क्या यह ऐसी लम्बी प्रक्रिया है ?' " उन्होंने आगे लिखा था—"मैंने कहा था कि यह योग 'नया' है क्योंकि इसका लक्ष्य जगत के परे ही नहीं, अपितु इसके भीतर भी भगवान को समग्र रूप में उपलब्ध करना तथा अतिमानसिक सिद्धि पाना है। परन्तु इससे भला उस आध्यात्मिक के प्रति, जो अन्य योगों के समान ही इसका भी एक लक्ष्य है, उच्चता-भिमानी घृणा कैसे उचित ठहरती है ?" ३ अप्रैल १६३६ की यह उक्ति स्वर्णिम अक्षरों में अंकित करने योग्य है।

श्री अरविन्द का योग न तो भक्तियोग ही है, न ज्ञानयोग ही और न कर्मयोग ही। वह तो उनकी प्रयोगशाला में निर्मित तीनों का अद्भुत समन्वयपूर्ण रसायन है मिश्रण भी नहीं। इसीलिए वह 'पूर्णयोग' है। श्री अरविन्द ने अपनी लेखनी से अपने शिष्यों को बार-बार पूर्णयोग का सर्वांगीण लक्ष्य बताया था, भ्रम मिटाने का प्रयत्न किया था, शंकाएं दूर की थीं—अत्यन्त धैर्यवान आचार्य के समान अत्यन्त शान्त महायोगी के समान। एक स्थान पर उन्होंने यह लक्ष्य बताते हुए लिखा था—"इस योग का लक्ष्य है—भागवत उपस्थिति और चेतनामें प्रवेश करना और उनसे अधिकृत होना, भगवान से एकमात्र भगवान ही के लिए प्रेम करना, अपनी प्रकृति को भगवान की प्रकृतिकेसाथएक स्वर करना और अपने संकल्प, कर्मकलाप एवं जीवन को भगवान का यन्त्र बनाना। इसका लक्ष्य महान योगी या अतिमानव बनना नहीं है (यद्यपि यह लाभ भी प्राप्त हो सकता है), न ही इसका लक्ष्य है अहं की शक्ति, अभिमान या सुख के लिए भगवान पर झपट्टा मारना। यह मोक्ष के लिए नहीं है, चाहे मोक्ष इससे अवश्य प्राप्त होता है और अन्य सब वस्तुएं भी प्राप्त हो सकती हैं, परन्तु ये हमारे लक्ष्य नहींहोने चाहिए। हमारा लक्ष्यतो केवल भगवानही है।"

श्री अरविन्द अपने लिए ही अतिमानस के अवतरण की दृष्टि से साधनाशील नहीं थे, वे तो सम्पूर्ण पृथ्वी-चेतना के लिए कार्य करने में लगे थे। वे स्वयं तो उस स्थिति को प्राप्त कर "पृथ्वी-चेतना के लिए अतिमानस के द्वार खोल देने की कुंजी मात्र" बनना चाहते थे। उनकी साधना पृथ्वी-चेतना के लिए साधना थी। उन्होंने स्पष्ट लिखा था—"मैं पृथ्वी-चेतना में आंतर सत्य, प्रकाश, सामंजस्य और शांति

का एक तत्त्व लाने का प्रयत्न कर रहा हूं; मैं इसे ऊर्ध्वस्थित देख रहा हूं और जानता हूं कि यह क्या है—मैं इसे सदा ऊपर से मेरी चेतना पर किरणें छिटकाता अनुभव करता हूं और इस बात के लिए यत्नशील हूं कि यह हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अपनी ही शक्ति में उठा ले जाए और मनुष्य की प्रकृति नित्य-निरन्तर आधे प्रकाश, आधे अंधकार में ही न पड़ी रहे।" उन्होंने आगे लिखा था—"मेरा विश्वास है कि इहलोक में दिव्य चेतना की अभिवृद्धि का मार्ग खोल देने वाले इस सत्य का अवतरण ही पार्थिव विकास का अन्तिम प्रयोजन है।"

श्री अरविन्द ने अभीप्सा (अर्थात् आकांक्षा) की तीव्रता से अनुभूति की तीव्रता और अनुभूति की तीव्रता से उच्च परिवर्तन का मार्ग खोज निकाला था। वे शांत अभीप्सा, अप्रतिहत अभीप्सा के द्वारा अपने साधना-पथ पर आगे बढ़ते चले गए। वे अखंड श्रद्धा के साथ अपने अन्तःस्थ परमेश्वर के प्रति समर्पित होकर आगे बढ़ते गए। उनके त्याग, वैराग्य, दृढ़ता, धैर्य इत्यादि गुण उनके दिव्य सहायक थे। उच्चस्तरीय चेतना में निवास करने की यह साधना कितनी कठिन साधना थी, इसकी झलक श्री अरविन्द की सान्ध्य वार्ताओं तथा पत्राचार में मिलती है। इसी साधना के चलते-चलते १५ अगस्त १९२४ का दिन आ पहुँचा। समुत्सुक शिष्य-मंडली के सम्मुख श्री अरविन्द ने कहा था—"मैं तो शान्त चेतना के माध्यम से बोलना अधिक पसंद करता हूं क्योंकि भाषण केवल मन को सम्बोधित करता है किंतु शान्त चेतना के माध्यम से अधिक गहरी वस्तु तक पहुंचा जा सकता है। ...हमारा योग निराकार अनंत ज्ञानरूप, इच्छारूप अथवा आनंदरूप ब्रह्म को लक्ष्य मानकर नहीं चलता अपितु परम पुरुष का साक्षात्कार, मानव ज्ञान की सीमित अनन्तता से परे अनन्त ज्ञान रूप ब्रह्म की प्राप्ति, हमारी व्यक्तिगत इच्छा के स्रोत अनन्त शक्तिरूप ब्रह्म की प्राप्ति और भावों के ऊपरी तल की गति से अग्राह्य आनन्द रूप ब्रह्म की प्राप्ति इसका लक्ष्य है। जिस परम पुरुष को हम पाना चाहते हैं वह व्यक्तित्वहीन अनन्त नहीं अपितु एक दिव्यपुरुष है...हमें अपनी वर्तमान प्रकृति के रूपान्तर के लिए उच्चतर प्रकाश, शक्ति और आनन्द का आवाहन करना होगा। इसके लिए आवश्यक है प्राणी के अंग-अंग में अनिवार्यतः पूर्ण निष्ठा जो प्राणी में जो भी हो रहा है उसे स्पष्ट देख सके और जो केवल सत्य को चाहे। प्रकाश के अवतरण तथा जीवन के लघुतम विवरण को भी शासित करने की बात के लिए दूसरी शर्त है अपने दिव्य व्यक्तित्व के प्रति, जो अतिमानस में हैं, सचेत हो जाना।..."

उस दिन शिष्यों ने यह जानना चाहा था कि उनका अतिमानस के अवतरण का प्रयोग सफल होगा, श्री अरविन्द ने कहा था—"मैं यही कह सकता हूं कि 'अगली अगस्त में पूछना।' इस वर्ष मैं गत वर्ष की अपेक्षा अधिक आशावान हूं। ...गत वर्ष मेरी साधना का बड़ा कड़ा वर्ष था। कृष्णतम भौतिक बलों ने मुझ पर

आक्रमण किया था। इस वर्ष वे चले गये हैं।" यह पूछने पर कि यह कार्य कब पूर्ण होगा, उन्होंने परम शक्ति द्वारा कार्य किस प्रकार होते हैं उस विधि को समझाया था और वैश्व अवस्थाओं की पूर्णता पर ही सफलता मिलने की बात कही थी। बाद में पूछे जाने पर उन्होंने यह भी कहा था कि भौतिक चेतना के सम्बन्ध में जड़ीय स्तर पर काफी कठिनाई सामने है क्योंकि इससे निबटने के लिए 'उच्चतम दिव्य शक्ति' की आवश्यकता पड़ती है और सम्पूर्ण विश्व का सम्पूर्ण संस्कार इसका विरोधी भी है। "ऊपर से किसी शक्ति को अवतरित होना होगा और बाधा को दूर करना होगा।"

शिष्यों की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी किन्तु सफलता की कोई घोषणा श्री अरविन्द द्वारा नहीं हो रही थी। १५ अगस्त १९२५ का दिन आया। श्री अरविंद ने एक संक्षिप्त किन्तु प्रेरक भाषण दिया। बाद में प्रश्नों के बीच श्री अरविन्द से फिर उनकी साधना के विषय में प्रश्न हुआ। श्री अरविन्द ने बंगभाषा में कहा — "मेरी साधना ? मैं क्या साधना कर रहा हूं ?" अवश्य ही वे उत्तर से बचना चाहते थे। उन्होंने शिष्यों से यही कहा कि वे एकाग्र ध्यान द्वारा अतिमानसिक अवतरण में सहायक बनें, शंकाएं विरोधी शक्तियां हैं।

१५ अगस्त १९२६ को भी श्री अरविन्द ने भाषण में अपनी साधना, अपने योग के स्वरूप को एक उच्चतर चेतना, प्रकाश, शक्ति के अवतरण के रूप में समझाया। शिष्यों ने प्रश्नोत्तर-कार्यक्रम में उनसे सफलता के विषय में काफी कुछ पूछा। श्री अरविन्द नेकोई निश्चित उपलब्धि तो नहीं बताई किन्तु यह स्पष्ट किया कि अतिमानसिक अवतरण से भौतिक विश्व में परिवर्तन नहीं आएगा किन्तु पार्थिव प्राणियों की संभावनाओं और कार्य-क्षमताओं में अवश्य परिवर्तन आएगा। यह भी कहा कि अतिमानसिक परिवर्तन उनमें होगा जो स्वयं को उच्चतर शक्ति के प्रति उद्घाटित किए हुए हैं।

२४ नवम्बर १९२६ का सिद्धि-दिवस

समय बीतता गया। शिष्यों की उत्सुकता बढ़ती गई। आशा-निराशा के मध्य झूलते हुए विविध शिष्यों को १५ अगस्त १९२७ तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। २४ नवम्बर १९२६ को माता जी ने सबको संदेश भिजवा दिया था कि सामूहिक ध्यान के कक्ष में सब साधक एकत्र हो जायें। सन्ध्याकाल था। सूर्य डूब रहा था। किंतु अपने सभी कार्यक्रमों में इधर-उधर बिखरे हुए साधक सायंकाल ६ बजते-बजते एकत्रित हो गए। बरामदे में जहाँ आश्रम के शिष्यगण एकत्रित हुए थे श्री अरविन्द की कुर्सी की पृष्ठभूमि में पड़े काले पर्दे पर एक विशेष चीनी चित्र अंकित था—तीन सर्पाकार दानव स्वर्णिम कारीगरी से अंकित थे। श्री पुराणी के शब्दों में—"तीनों सर्प इस तरह दिखाए गए थे कि एक की पूंछ दूसरे के मुख तक

पहुंचती थी और तीनों से पर्दा पूरी तरह भरा हुआ था। हमें बाद में ज्ञात हुआ कि चीन में एक भविष्यवाणी की गई थी कि सत्य उस दिन पृथ्वी पर उद्घाटित होगा जिस दिन तीनों सर्प (पृथ्वी, मन और आकाश रूपी सर्प) मिलेंगे। आज २४ नवम्बर को सत्य का अवतरण हो रहा था और पर्दे को टांगा जाना अर्थपूर्ण था।

उस शांत वातावरण में अकस्मात अनेक शिष्यों ने देखा मानो प्रकाश की एक बड़ी बाढ़-सी ऊपर से अवतरित हो रही हो। हर एक साधक ने अपने सिर पर एक दबाव का अनुभव किया। श्री पुराणी के अनुसार —"सारा वातावरण किसी विद्युत शक्ति से अत्यधिक आविष्ट था। उस शान्ति में, उस घने उत्सुकता व आकांक्षा से मिश्रित वातावरण में, उस विद्युत-आविष्ट वातावरण में, एक सामान्य, फिर भी आज असामान्य, 'टिक' की ध्वनि प्रवेशद्वार पर हुई। उत्सुकता की बाढ़ आ गई।" और तब माताजी व श्री अरविन्द ने अत्यन्त भव्य गति से प्रवेश किया। श्री अरविन्द की कुर्सी के सामने रखी रहने वाली मेज़ हटा दी गई थी और माताजी एक स्टूल पर (श्री अरविन्द की दाहिनी ओर) बैठी थीं।

पूर्ण शान्ति के मध्य ४५ मिनट तक सामूहिक ध्यान हुआ और तब शिष्यों द्वारा प्रणाम और दोनों के द्वारा आशीर्वाद का क्रम चला। आशीर्वाद के उपरान्त पुनः सामूहिक ध्यान हुआ। उस समय अनेक साधकों ने दिव्य अनुभूतियां पाईं। श्री पुराणी के शब्दों में—"जब सम्पूर्ण कार्यक्रम समाप्त हो गया तो उन्हें ऐसा लगा मानो वे किसी दिव्य स्वप्न से जगा दिए गए हों। तब उन्हें उस अवसर की भव्यता, काव्यात्मकता व असीम सुन्दरता का अनुभव हुआ। ऐसा नहीं था कि पृथ्वी के एक छोटे से कोने में मुट्ठी भर शिष्य अपने सर्वोच्च गुरु तथा माताजी से आशीर्वाद ले रहे थे। उस अवसर की महत्ता उससे कहीं अधिक थी। अवश्य ही पृथ्वी पर एक उच्चतर चेतना अवतरित हुई थी। उस गंभीर शान्ति में, वटवृक्ष के अंकुर के समान एक सशक्त आध्यात्मिक कार्य का प्रारंभ हुआ था।"

श्री अरविन्द और माताजी के चले जाने के पश्चात् दिव्य आवेश में 'दत्ता' नाम की (विदेशी) साधिका की प्रेरित वाणी गूंज उठी—"भगवान आज भौतिक तत्त्व में अवतरित हुए हैं।"

किंतु अभी अतिमानस का अवतरण नहीं हुआ था। यह तो केवल अधिमानस (ओवरमाइण्ड) का अवतरण था। श्री अरविन्द के शब्दों में ही कहें तो—"२४ नवम्बर १९२६ को श्रीकृष्ण का भौतिक तत्त्व में अवतरण हुआ था। कृष्ण अतिमानसिक प्रकाश नहीं हैं। कृष्ण के अवतरण का अर्थ है अधिमानसिक ईश्वरीय सत्ता का अवतरण जो स्वयं तो अतिमानस और आनन्द नहीं है किन्तु उनके अवतरण को तैयार करने वाला है। कृष्ण आनन्दमय हैं, वे अधिमानस के द्वारा आनन्द की ओर बढ़ने में विकास की सहायता करते हैं।"

२४ नवम्बर १९२६ की स्मृति में 'सिद्धि-दिवस' आश्रम का पर्व ही बन गया।

९. सान्ध्य वार्ताएं

श्री अरविन्द की सान्ध्य वार्ताओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सहज वातावरण में साधकों द्वारा अपने पथ-प्रदर्शक महायोगी से खोज-खोजकर पूछे गए विविध प्रकार के प्रश्नों और उनके उत्तरों के अतिरिक्त विविध आगंतुकों से प्रत्येक सायंकाल को होने वाली बातचीत का जो विवरण (विद्वान शिष्यों द्वारा चुपचाप ही सँजोया गया) आज उपलब्ध है, उसे देखकर यह आश्चर्य होता है कि श्री अरविन्द उस एकांत आश्रम में भी विश्व से कितने सम्बद्ध थे। उनका बहुमुखी ज्ञान ही नहीं, मर्मभेदी दृष्टि, घटना-प्रवाहों की दिशा को पहचानने की अलौकिक क्षमता, सत्य के स्वरूप को ठीक-ठीक बता सकने वाली आत्मविश्वासपूर्ण वाणी तथा वैज्ञानिक और अति-वैज्ञानिक दोनों क्षेत्रों में असाधारण पहुंच को देखकर किसे अवाक् नहीं रह जाना पड़ेगा ?

वार्ताओं का वातावरण

धोती पहने हुए, प्रायः बिना चादर या शाल के, अपने शिष्यों की उत्सुकता-पूर्ण मंडली में श्री अरविन्द का आना ही उस कार्यक्रम का प्रथम चरण था। पूर्ण शांति के मध्य किसी समाचार, किसी पत्र, किसी पुस्तक, किसी जिज्ञासा या किसी टिप्पणी से श्री अरविन्द के मन को स्पर्श करने का शिष्यों द्वारा प्रयत्न और तब निकलने वाली वाणी का अमृत-प्रवाह उसका दूसरा चरण होता। अट्टहासों, हल्की-फुल्की बातों का तीसरा चरण भी रहता। और सब में घुलते-मिलते दिखाई पड़ते श्री अरविन्द काजो बोलते समय भी स्पष्ट दिखाई पड़ने वाला एक मौन था, एक अलगाव था,बहुत कुछ कह देने पर भी बहुत कुछ को न कहकर सुरक्षित रखे रहना था, वही चौथा चरण था। तब आश्रम में प्रत्येक सन्ध्या उत्सुकता से भरी हुई आती, प्रत्येक हृदय जिज्ञासा से भरा हुआ बैठता, प्रत्येक प्रश्न उत्तरित होता, प्रत्येक समस्या समाधान पाती और प्रत्येक साधक साधना में आगे बढ़ने की प्रेरणा पाता। मानव-बुद्धि की गरिमा किन्तु साथ ही आध्यात्मिक साधना में उसकी सीमितता दिखाने वाली श्री अरविन्द-वाणी तर्कसम्मत होती, भले ही तर्क-प्रेरित न हो। सांध्य वार्ताओं का स्थान भी आवश्यकतानुसार बदला जाता रहा, समय भी

सायंकाल को बढ़ते-बढ़ते अर्धरात्रि तक पहुंचा किन्तु वार्ताओं के आत्मीयतापूर्ण सहज रूप में कोई अन्तर नहीं आया। श्री अरविन्द ने दिसम्बर १९२६ के पश्चात् जीवन-क्रम बदल दिया तो सांध्य वार्ताएं समाप्त हो गईं किन्तु फिर २३ नवम्बर, १९३८ को श्री अरविन्द के एक पैर की हड्डी टूट जाने के कारण वार्तालाप का क्रम पुनः प्रारंभ हो गया—यद्यपि कुछ परिवर्तित रूप में। हां, परिवर्तित रूप में, क्योंकि अब उन्हीं को ये वार्ताएं सुनने का अवसर उपलब्ध होता था जो उनकी सेवा कर रहे थे। बाद में यह वार्ताक्रम १९३८ से १९५० तक किसी न किसी रूप में चलता रहा।

श्री पुराणी द्वारा सांध्य वार्ताओं के विवरण

श्री ए० बी० पुराणी कृत 'ईवनिंग टाक्स' नामक तीन खण्डों की कृतियों में इन सांध्य वार्ताओं के रोचक विवरण सुरक्षित हैं। प्रथम खण्ड में साक्षात्कारों का विवरण है, विविध पुस्तकों की चर्चा के अन्तर्गत श्री अरविन्द की बातचीत है तथा तदुपरान्त औषधियों, कला, कविता और सौन्दर्य पर उनके विचारों का मूल्यवान संग्रह है। द्वितीय खण्ड में कांग्रेस व राजनीतिक चर्चाएं पहले हैं, फिर अहिंसा-सम्बन्धी संवाद हैं और तदुपरान्त साधना, वैदिक व्याख्या, शिक्षा, चमत्कार, मनोविज्ञान, आन्दोलन, व देवतागण पर विविध वार्ताएं हैं और अंत में श्री अरविन्द के चार जन्म-दिवस-समारोहों (१९२३ से १९२६ तक की १५ अगस्त) पर उनके द्वारा व्यक्त विचार संग्रहीत हैं। तृतीय खण्ड में वर्ष १९३८ के दिसम्बर वर्ष १९३९ के जनवरी, फरवरी, मार्च, मई, नवम्बर व दिसम्बर, वर्ष १९४० के जनवरी से सितम्बर तक तथा दिसम्बर, वर्ष १९४१ के जनवरी और वर्ष १९४२ की कुछ संदिग्ध सामग्री के अतिरिक्त वर्ष १९४३ के अप्रैल, अगस्त व अक्तूबर की अमूल्य सामग्री मिलती है। इनमें से कुछ वार्ताओं की एक अति संक्षिप्त झलक देना यहां समीचीन होगा।

राजनीति में ठोस कार्य की विधि

बंगाल की प्रसिद्ध कार्यकर्त्री सरला देवी चौधरानी ने १९२० के अंत में श्री अरविन्द से पांडीचेरी जाकर भेंट की। उन्होंने श्री अरविन्द से तात्कालिक राजनीति पर चर्चा की और उन्हें वापस चलकर राजनीतिक गतिविधियों को इष्ट दिशा में मोड़ने के लिए कहा। श्री अरविन्द ने अपनी आध्यात्मिक साधना के कारण वैसा करने में असमर्थता प्रकट की। जब सरला देवी ने उनसे गांधीजी के असहयोग आन्दोलन द्वारा सरकार के विरुद्ध संघर्ष छिड़ने की चर्चा की तो श्री अरविन्द ने कहा कि यदि वे राजनीति में होते तो भी दूसरा मोर्चा बनाते, यह नहीं। "मैं सरकार से संघर्ष करने के पूर्व आधारभूमि पक्की करता।" सरला देवी ने इस पर

पूछा था कि क्या देश में अभी इतना कार्य नहीं हुआ है कि संघर्ष छेड़ा जाता ? श्री अरविन्द का उत्तर महत्त्वपूर्ण था—

"अभी तक भावावेग की लहरें तथा चारों ओर थोड़ी सी जागृति आई है। किंतु जब सरकार अपनी पूर्ण शक्ति से ज़ोर लगाएगी तब उसको झेल सकने वाला बल अभी नहीं आया है। आज की आवश्यकता है राष्ट्रीय इच्छा का और अधिक संगठन। भावावेगी लहरों का उठना व फैलना और बिखर जाना व्यर्थ है। हमारे नेताओं को भाषण ही नहीं देते रहना चाहिए। हमें यह करना चाहिए कि केन्द्रीय संगठन के किसी भी आदेश को देश-भर में पालन करने वाली स्थानीय समितियां संघटित करें। ये स्थानीय नेता जनता के बीच में रहें। श्री अरविन्द ने असहयोग-आन्दोलन की ठोस आधारभूमि न होने की ओर संकेत किया था—"मद्रास के कुछ विद्यार्थी यहां आए थे। उन्होंने मुझे बताया कि वे असहयोग करना चाहते थे क्योंकि यह सरकार अन्यायपूर्ण है। यह पूछने पर कि वे न्यायपूर्ण ब्रिटिश सरकार से तो सहयोग करेंगे, वे उत्तर ही नहीं दे सके। भारत को स्वतंत्रता अपने कारण ही चाहिए, अपनी आत्मा के लिए चाहिए। मैं तो चाहूंगा कि भारत को अपना 'स्वराज' मिले और आयरलैण्ड के सदृश वह अपनी मुक्ति हिंसा से भी प्राप्त करे —अहिंसा से करे तो अधिक अच्छा है। हमारा आधार, मात्र ब्रिटिश सरकार के विरोध से, अधिक बड़ा होना चाहिए…।"

राजनीतिक स्वातंत्र्य और ग्राम सुधार को मिलाना त्रुटिपूर्ण

९ अप्रैल १९२३ को मद्रास के एक आगंतुक से बात करते हुए श्री अरविन्द ने कहा था कि भारतीय राजनीतिक नेताओं ने राजनीतिक स्वातंत्र्य और ग्राम-सुधार दोनों को मिलाने की नीति अपनाकर ठीक नहीं किया है। राजनीतिक कार्यकर्ता का कार्य तो सीधा है। उसे ग्रामों में आयरलैंड के किसान-संघों जैसी संस्थाएं खड़ी करनी चाहिएं और जब वे सुगठित हो जाएंगी तो उनका राजनीतिक लाभ होगा। किन्तु ग्राम-सुधार का कार्य धीरे-धीरे करने का है और वह आज आवश्यक भी है। किन्तु ग्रामीणों से वैचारिक मार्गदर्शन पाने की आशा करना व्यर्थ है क्योंकि ग्रामों ने कभी भी, प्राचीन भारत में भी, कोई सर्जनात्मक गतिविधि नहीं दिखाई है, कारण यह कि उसके लिए कुछ अवकाश और मानसिक विकास की आवश्यकता है।

शारीरिक रोग के प्रति सही दृष्टि

११ अप्रैल, १९२३ को श्री अरविन्द ने मद्रास से आए एक साधक से वार्ता में रोग के प्रति साधक की मनोवृत्ति के विषय में जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कहा था—"उसे प्राणिक सत्ता में व मन में पूर्णतया अनासक्त रहना चाहिए। रोग तो

प्रकृति की शक्तियों के कार्य का परिणाम ही है। साधक को अपनी संकल्प-शक्ति का प्रयोग रोग को दूर करने में करना चाहिए और यह संकल्प भी ईश्वरीय संकल्प के प्रतिनिधि के रूप में करना चाहिए। जब ईश्वरीय संकल्प आधार में अवतरित होता है तब यह साधक के संकल्प के माध्यम से होकर अपरोक्ष रूप से नहीं, प्रत्यक्ष रूप से कार्य करता है और रोग को दूर कर देता है। जब चैत्य पुरुष जागृत हो जाता है तो शरीर में आने से पहले ही रोग का प्रभाव दिखाई पड़ जाता है। व्यक्ति न केवल उसे देखता ही है अपितु यह भी जाना जाता है कि किस अंग पर आक्रमण होने वाला है और उच्चतर शक्ति की सहायता से व्यक्ति उस आक्रमण को नियंत्रित कर सकता है।"

श्री अरविन्द-योग का उद्देश्य

२३ दिसम्बर, १९२३ को एक प्राध्यापक साधक से वार्ता के मध्य श्री अरविन्द ने कहा था—"आजकल मैं जो कर रहा हूं वह अतिमानसिक योग है। मनुष्य आज जैसा बना हुआ है, भगवान् की एक वहुत अपूर्ण अभिव्यक्ति है, बहुत ही अपरिष्कृत। ऐसा इस कारण है कि मनुष्य अज्ञान के आवरण में—मन, प्राण और शरीर में—रह रहा है अतः वह मन से परे की यथार्थता से अभिज्ञ ही नहीं है। मन के ऊपर अतिमानसिक शक्ति है। मन, प्राण व शरीर को शासित करने के लिए उच्चतर शक्ति को नीचे उतार लाने के लिए मैं आज प्रयत्नशील हूं। इस योग का उद्देश्य मानव जाति की सेवा नहीं है, और न मनुष्य की सामान्य परिपूर्णता है अपितु इस भौतिक विश्व में आत्मा के विकासचक्र में अतिमानसिक शक्ति का विकास करना है। इसमें व्यक्ति को यही करना है कि उस आवरण को—मोटे आवरण को—जो मन को अतिमानस से पृथक् करता है, विदीर्ण कर देना। यह कार्य मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता।"

प्रकृति-पुरुष-विवेक की शिक्षा

श्री अरविन्द-योग में भी, अन्य अनेक साधनाओं के समान ही, प्रकृति-पुरुष-विवेक का अभ्यास करने को कुछ साधकों से कहा जाता था। श्री अरविन्द ने उपर्युक्त नए प्राध्यापक साधक को यही करने का आदेश दिया था। श्री अरविन्द ने बड़ी सरलता से इसकी पद्धति बताते हुए २७ दिसम्बर १९२३ को कहा था—"तुम जिसे प्रायः अपनी आत्मा समझते हो, वह केवल ऊपरी तलीय सत्ता व उसके ऊपरी कार्य मात्र हैं। मनुष्य जिसे 'स्व' समझता है, वह प्रकृति में मात्र एक गति है—विश्वमन, विश्वप्राण और विश्वपदार्थ में एक गति। तुम्हें यह करना है कि प्रकृति की गतियों से स्वयं को पृथक् कर लो अथवा अनासक्त कर लो। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि तुम न केवल प्रकृति के विश्व-कार्य के दर्शक ही हो अपितु उसमें

सहमति भी दे रहे हो। तुम्हारे अन्दर जो चल रहा है उसे देखने की गति सच्चे पुरुष को पृथक करना ही नहीं है, यह तो केवल मनोमय पुरुष को पृथक करना है। तब तुम उसे पुरुष के रूप में, मात्र 'साक्षी' के रूप में नहीं, अपितु अनुमति प्रदान करने वाले 'अनुमन्ता' के रूप में देखोगे। तुम अपने भीतर चलने वाली प्रकृति की गतिविधि को रोक सकते हो।" आगे उन्होंने इस रोकने की क्रिया को भी बलात् न करने की शिक्षा दी थी क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि यह गतिविधि प्रकृति में और गहरी चली जाएगी तथा कभी भी अवसर पड़ने पर उभर आएगी। तुम यह करो कि उस गतिविधि को ठुकरा दो, अपनी प्रकृति से निकाल कर बाहर फेंक दो। और यह तुम सभी गतिविधियों से स्वयं को अधिकाधिक अनासक्त करके कर सकते हो।" श्री अरविन्द ने इस महत्त्वपूर्ण विषय पर आगे कहा था—"जब तुम पुरुष को प्रकृति से पृथक कर लोगे तब एक शान्ति का अनुभव करोगे। वह शान्ति है पुरुष-चेतना जो प्रकृति के कार्य को देख रही है। यही मौन साक्षी कही जाती है। यह शान्ति उतनी ही अधिक गहरी होती जाती है जितना अधिक तुम स्वयं को प्रकृति से अनासक्त करते जाते हो।" उन्होंने बताया था कि कालान्तर में यही पुरुष-चेतना प्रकृति के किसी भी कार्य को रोक सकती है। "इस पुरुष-चेतना को पाने के लिए तुम निम्नतर प्रकृति का सब कुछ ठुकरा दो। उदाहरणार्थ इच्छाएं, भावनाएं और मानसिक विचार।"

साधना और पागलपन

श्री अरविन्द की इन वार्ताओं में हास्य-विनोद के क्षण भी खुलकर आते। १६ जनवरी, १९२४ की सान्ध्य गोष्ठी में वर्धा के एक वकीलका पत्र श्री अरविन्द को पढ़कर सुनाया गया था। लेखक में पागलपन की बढ़ी अवस्था के लक्षण थे। उसने लिखा था कि वह योगी और लेखक बनने के पश्चात् एम० ए० और एल० एल० एम० करना चाहता है। उसने यह भी लिखा था कि वह ३००० रुपये उधार लेने वाला है, यदि श्री अरविन्द यह वचन दें कि वह कोर्स (पथ या पाठ्यक्रम) पूरा कर लेगा। श्री पुराणी की कृति में आगे के संवादों का क्रम इस प्रकार है—

श्री अरविन्द : कौन सा कोर्स ? तुम्हारा तात्पर्य है पागलपन का कोर्स ? वह चाहता है कि मैं उसका कोर्स पूरा कराऊं।

शिष्य : यह बहुत आश्चर्य की बात है कि आजकल यहां पागलों को खींचने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

शिष्य : वह पराशक्तिमान (एक अन्य व्यक्ति का संदर्भ जो पराशक्ति के आदेश से शिष्य बनने आया है, यह कहकर मिलने आया था, श्री अरविन्द उससे नहीं मिले थे) प्रतिदिन एक-एक वस्त्र लोगों में बांट देता है।

श्री अरविन्द : कहीं वह कल बिना किसी वस्त्र के यहां न आ जाए ! (हँसी)

शिष्य : यह तो देवताओं के देखने योग्य दृश्य होगा।

शिष्य : सबसे पहले तो यह तुम्हारे देखने योग्य दृश्य होगा। (हँसी) पागलपन में साधना के लिए कुछ आकर्षण अवश्य रहता है। मैंने बंगाल के क्ष के साथ आठ लोग देखे थे।

श्री अरविन्द : मैं कह सकता हूं कि मैं अभी इतनों को साथ रखने के स्तर तक नहीं पहुंचा हूं। (हँसी)

शिष्य : एक प्रस्ताव है कि जहां साधना केन्द्र हो, वहां पास में ही पागलखाना भी होना चाहिए। (हँसी)

श्री अरविन्द : बुरा विचार तो नहीं है। तुम इसे हमारे क्ष को सौंप सकते हो।

शिष्य : तब तो मुझे भय है कि किसी को मेरी ही देखभाल का दायित्व लेना होगा। (हँसी)

खादी पवित्र कैसे ?

९ फरवरी १९२४ को चर्चा (महात्मा गांधी और श्री अरविन्द—भक्त श्री दिलीपकुमार राय के मध्य पूना में हुई वार्ता में व्यक्त) गांधी जी के कला-सम्बन्धी विचारों पर चल पड़ी। श्री अरविन्द ने गांधी जी के इस कथन को उचित नहीं माना कि खादी कलात्मक है। उनका कहना था कि यह तो कहा जा सकता है कि खादी कलात्मक बनाई जा सकती है किन्तु जैसी खादी आज है, उसे कलात्मक कौन मानेगा ? शिष्य द्वारा यह कहे जाने पर कि खादी को 'पवित्रता का प्रतीक' कहा जाता है, श्री अरविन्द ने ठीक कहा था—"यह दुर्बल मन का ही लक्षण है कि जिन वस्तुओं को तर्कसम्मत रूप में परस्पर साथ नहीं रखा जा सकता उन्हें मिलाने का प्रयत्न करें जैसे पवित्रता, स्वराज, राजनीति इत्यादि को खादी के साथ। खादी को अपने ही गुणों के कारण प्रयोग में लाया जाए, इस पर कोई आपत्ति नहीं करता। तो फिर उसे ऐसे ही प्रयोग में क्यों न लाया जाए ? उसमें संगीत, धर्म, स्वराज इत्यादि को क्यों डाला जाए ?"

इस पर श्री अरविन्द के एक शिष्य ने जो रोचक बात कही थी, वह भी उल्लेखनीय है—"खिलाफत आन्दोलन के दिनों में वे कहा करते थे : "स्वराज है खिलाफत', 'खिलाफत है गाय'। और हम कहते थे, 'हां, स्वराज है गाय'।"

लाला लाजपतराय और श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से भेंट

५ जनवरी १९२५ को लाला लाजपतराय, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन व डा० निहालचंद ने श्री अरविन्द से भेंट की थी। श्री अरविन्द और लाला लाजपतराय की वार्ता पहले तो एकान्त में लगभग पैंतालीस मिनट तक हुई और तब वे दोनों

लोग निकल कर बाहर आए और फिर टंडन जी से भी बातचीत होती रही। श्री अरविन्द ने इस अवसर पर अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं। उन्होंने नेताओं द्वारा जनता को लम्बे-चौड़े आश्वासन देने की पद्धति का खण्डन किया था और इस बात को भी नहीं माना था कि स्वायत्त संस्थाओं के चुनावों में कांग्रेसियों के भाग लेने से पारस्परिक भेदभाव, ईर्ष्या, सत्तालोलुपता आदि की वृद्धि होगी अतः पदों पर जाना ही नहीं चाहिए। श्री अरविन्द का कथन था कि—"सत्ता का लोभ तो सदैव रहेगा। तुम सत्ता के पदों को बन्द करके तो इस पर विजय नहीं पा सकते। हमारे कार्यकर्त्ताओं को इसका अभ्यस्त हो जाना चाहिए। उन्हें राष्ट्र के लिए पदों को संभालना आना चाहिए। यह कठिनाई तब तो अनन्तगुनी बड़ी होगी जब तुम्हें स्वराज मिलेगा। ये बातें यूरोप में भी हैं। यूरोपीय लोग ठीक वैसे ही हैं जैसे हम हैं, केवल उनमें अनुशासन है - जिसकी हममें कमी है—और राष्ट्र-गौरव की प्रखर भावना है जो हम में नहीं है।" तदनंतर श्री अरविन्द ने इन दोनों को राष्ट्र में जगाने की आवश्यकता पर बल दिया था।

फिर श्री अरविन्द ने उनसे चर्खा-कार्यक्रम के विषय में पूछा था कि इससे स्वराज कैसे मिल जाएगा? टंडन जी का उत्तर था—"अधिक अच्छे कार्यक्रम के अभाव में, यह लोगों को अनुशासित करता है और उनसे राष्ट्र के लिए कुछ कराता है। एक निश्चित उद्देश्य के लिए सामूहिक कार्य का विचार भी इससे सामने आता है।"

श्री अरविन्द ने कहा था—"चर्खे का अपना महत्त्व तो है किन्तु यह स्वराज नहीं ला सकता।" इस पर टंडन जी का उत्तर था—"ला सकता है, यदि कातने के पीछे के भाव को समझ लिया जाए।" तननंतर का वार्तालाप श्री पुराणी के अनुसार इस प्रकार है—

श्री अरविन्द : मुझे भय है कि तुम मुझमें उस भाव को तो नहीं पा सकते। हां, मुझसे तो एक सन्तरी खड़ा करके चर्खे का काम ही करा सकते हो। (हँसी)

शिष्य : किन्तु चर्खा ही क्यों? तेल-मिल क्यों नहीं? यह भी तो एक सामूहिक कार्य है।

पु० टंडन : हां, मैं जानता हूं कि भारत ने अपनी स्वतंत्रता खोई ही थी, जब चर्खा था। किन्तु दूसरा कोई कार्यक्रम न होने से ही, हम इसे मान रहे हैं।

श्री अरविन्द : हमें किसी बाह्य कर्म मात्र—जैसे कातना, की आवश्यकता नहीं है अपितु अनुशासन और राष्ट्र-गौरव की भावना की आवश्यकता है।

ला० लाजपतराय : हां, हममें कमी है टकराने वाले हितों के मध्य सार्वजनिक हित की भावना की।

श्री अरविन्द : बिल्कुल ठीक।

पाश्चात्य दर्शन कितना उपयोगी ?

अपनी कृति 'दिव्य जीवन' पर एक समीक्षा की चर्चा के अन्तर्गत श्री अरविन्द ने २६ अगस्त १९४० को कहा था कि उन्होंने दर्शन का अधिक अध्ययन नहीं किया था। उन्हें हीगेल या नीत्शे से प्रभावित कहना ठीक नहीं है। "जिन दो पुस्तकों ने मुझे प्रभावित किया है, वे हैं गीता और उपनिषद। जो मैंने लिखा, वह अन्त:प्रज्ञा और प्रेरणा का मेरे आध्यात्मिक अनुभव पर कार्य करते हुए किया गया कार्य था। मेरे पास और कोई प्रणाली नहीं है जैसे आधुनिक दार्शनिक पर है जिसके दर्शन को मैं केवल बौद्धिक और इस कारण गौण मूल्य का मानता हूं। मैं तो समझता हूं कि दर्शन का सच्चा उद्देश्य अनुभव और अनुभव का सूत्रीकरण है। शेष तो मात्र बौद्धिक कार्य है और वह रोचक हो सकता है परन्तु उससे अधिक कुछ नहीं।"

भारतीय वेशभूषा कितनी सुन्दर

२४ जनवरी, १९३९ की सांध्य वार्ता में श्री अरविन्द ने कुछ जातियों की सौन्दर्य-भावना की प्रशंसा की थी। भारत, प्राचीन यूनान, इटली आदि में सौन्दर्य-भावना की गहरी छाप जन-जन में देखी जा सकती है। जब एक शिष्य ने श्री अरविन्द को बताया कि 'निष्ठा' (अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन की पुत्री जिन्हें आश्रम में 'निष्ठा' नाम मिला था और जो वहां एक साधिका थीं) भारतीय नारियों की चाल की बहुत प्रशंसक हैं—"भारतीय स्त्रियां तो मुझे जन्मजात नृत्यनिपुण लगती हैं, उनकी चाल में इतनी अच्छी लय है" तो श्री अरविन्द ने कहा था—"वह ठीक कहती है। मेरे विचार में यह अपने सिरों पर पानी भरे कलशों को लेकर चलने के कारण है।" और जब निष्ठा द्वारा भारतीय महिलाओं की साड़ियों की प्रशंसा की बात बताई गई—"इन महिलाओं को रंग-बोध है" तो श्री अरविन्द ने कहा था—"मैं आशा करता हूं कि वे इसे आधुनिक प्रभाव के अन्तर्गत छोड़ नहीं देंगी।"

इस पर शिष्य ने टिप्पणी की थी—"साड़ी, भव्य तो है किन्तु फुरतीले काम में ठीक नहीं है, असुविधाजनक है।" श्री अरविन्द का उत्तर था—"क्यों ? रोमनों ने विश्व को चोगा पहन कर जीत लिया था। अगणित भारतीय नारियां साड़ियां पहनकर काम करती हैं। जब उपयोगिता की यह सनक—जो आधुनिक प्रवृत्ति है—आती है, तो सौन्दर्य की मृत्यु हो जाती है। आजकल लोग, प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता की दृष्टि से देखते हैं, मानो सौन्दर्य कुछ है ही नहीं।"

शिष्य भी तर्कशील था। उसने कहा—"किन्तु मेरा विश्वास है कि सौन्दर्य और उपयोगिता को मिलाया जा सकता है। मैंने यह देखा है कि पुरुषों के लिए

यूरोपीय वेशभूषा हर एक को कार्य करने की और सक्रियता की प्रेरणा देती है किन्तु भारतीय धोती सुस्ती और आलस्य की भावना लाती है।"

श्री अरविन्द के उत्तर में प्रखरतर तर्क था—"उससे यूरोपीय वेशभूषा की कुरूपता तो मिट नहीं जाती। मैंने बहुतेरे लोगों को धोती पहने सक्रिय जीवन व्यतीत करते देखा है। सब से आवश्यक उपयोगिता की वेशभूषा तो नेकर-कमीज़ है।"

भारत में आत्मसात करने की शक्ति

२६ जून, १९२६ की एक बैठक में यूरोपीय और मानवीय राजनीति का विवेचन करते-करते चर्चा भारत की आत्मसात करने वाली शक्ति पर आ गई। प्रश्न था—"क्या मुस्लिम तत्त्व को भी आत्मसात करना संभव है?" श्री अरविन्द के लम्बे उत्तर को श्री पुराणी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"क्यों नहीं? भारत ने यूनानियों, फ़ारसी तथा अन्य राष्ट्रों से तत्त्वों को आत्मसात किया ही है। किन्तु भारत आत्मसात तभी करता है जब दूसरा पक्ष उसके केन्द्रीय सत्य को स्वीकार कर लेता है और आत्मसात भी वह इस प्रकार करता है कि समाविष्ट तत्त्वों को विदेशी कह कर पहचाना ही नहीं जा सकता अपितु वे तो उसका ही अंग हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, हमने यूनानी स्थापत्य, फारसी चित्रकला, इत्यादि से ग्रहण किया। मुस्लिम संस्कृति का भी आत्मसात्करण मन में तो बहुत सीमा तक हो ही गया था, और यह और भी अधिक दूर तक जाता। किन्तु प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है कि मुस्लिम मनोवृत्ति में परिवर्तन आए। संघर्ष है बाह्य जीवन में और जब तक मुसलमान सहिष्णुता नहीं सीख लेते, तब तक आत्मसात्करण संभव ही नहीं है। हिन्दू तो सहन करने को तैयार है। वह तो नए विचारों के लिए खुला रहता है और उसकी संस्कृति में आत्मसात्करण की आश्चर्यजनक क्षमता है, किन्तु उसके लिए आवश्यक शर्त यही है कि उसके 'मूल सत्य' को मान लिया जाए।

पूर्व और पश्चिम कहां मिलें?

उपर्युक्त गोष्ठी में ही श्री अरविन्द से पूछा गया था कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इस विचार पर उनका क्या मत है कि भारत ही पूर्व और पश्चिम का मिलन-स्थल हो। श्री अरविन्द ने कहा—"पश्चिम और पूर्व के मिलन से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? तुम्हारा तात्पर्य सिंह और मेमना के मिलन के सदृश मिलने से है?"

शिष्य ने कहा —"भाइयों और समानों के समान मिलना" उस पर दूसरे शिष्य ने कहा था—"भारत में ही क्यों मिलें? हम उनके भाई के समान लंदन में भी तो मिल सकते हैं।"

और वातावरण हँसी से गूंज उठा था।

रोग दूर होने का कारण सिद्धान्त नहीं

३० अगस्त १९२५ की गोष्ठी में चर्चा के मध्य एक शिष्य के यह कहने पर कि फ्रायड ने अपने सिद्धान्त से लोगों को रोगमुक्त कर दिया था, श्री अरविन्द ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी—"सिद्धान्त (थ्योरी) किसी को रोगमुक्त नहीं किया करता। क्या तुम अभी भी विश्वास करते हो कि सिद्धान्त से रोग दूर हो जाता है? लोगों के रोग दूर करना, या कोई परिणाम प्राप्त कर लेना, किसी सिद्धान्त विशेष पर निर्भर नहीं करता। वह सिद्धान्त सत्य हो चाहे मिथ्या और फिर भी तुम्हें उस से ठीक परिणाम मिल सकते हैं।···सिद्धान्त मात्र तुम्हें विश्वास-युक्त कर देता है और उससे आवश्यक आन्तरिक अवस्था उत्पन्न कर देता है। यही बात है। यह चाहे सत्य हो या मिथ्या। फ्रायड ने लोगों को रोगमुक्त किया होगा जैसे आजकल 'कुई' करता है किन्तु क्या वह सिद्धान्त से चिकित्सा करता है? बिलकुल नहीं, यह तो केवल इस कारण है कि उसके पास कुछ शक्ति है और इसलिए लोग उसके द्वारा रोगमुक्त हो जाते हैं।"

सान्ध्य वार्ताओं की मधुर स्मृति

निस्सन्देह श्री अरविन्द के साथ हुई इन सांध्य वार्ताओं की उनके शिष्यों पर गहरी छाप पड़ी थी। श्री अरविन्द का बहुमुखी तथा गंभीर व्यक्तित्व इन वार्ताओं में अत्यंत सरस रूप में सामने आया करता था। ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं, वे उन सहस्रों वार्ताओं की मात्र कुछ झलक दे सकते हैं। साहित्य, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, चिकित्सा-पद्धति आदि सैकड़ों विषयों पर हुई चर्चाओं का सार-संक्षेप भी एक स्वतंत्र पुस्तक का विषय हो सकता है। इनमें रुचिशील पाठकों को श्री पुराणी की कृतियों के अतिरिक्त श्री नीरदवर्ण आदि शिष्यों के संबंधित लेख तथा 'टाक्स विद श्री अरविन्द' इत्यादि पुस्तकों को देखना उपयोगी रहेगा। श्री नीरदवर्ण ने उन वार्ताओं की मधुर स्मृति में 'मदर इंडिया' (फरवरी १९७० में) लिखा था—"उन प्रसिद्ध वार्ताओं की स्मृति आती है। उस समय निर्वैयक्तिक पुरुष का स्वरूप कितना वैयक्तिक हो गया था। पूर्णतया घनिष्ठ रूप से निकटवर्ती। हम लोगों से नाना विषयों पर बात करते—राजनीति, धर्म, दर्शन क्या शेष रहा था जिस पर बात न हुई हो?"

१०. साधकों को पत्र

श्री अरविन्द के पत्रों का अपना सौन्दर्य है। सन् १९२६ से १९३८ के एकान्त जीवन में साधकों के साथ वार्ता न करके उनके लिखित प्रश्नों और शंकाओं का लिखित उत्तर भिजवाने की पद्धति श्री अरविन्द ने चलाई थी। सैंकड़ों प्रश्नों के उत्तर देने में श्री अरविन्द को बहुत समय देना पड़ता था किन्तु उनकी इस तपस्या से १२ वर्षों में ललित अंग्रेज़ी में लिखित सहस्रों पत्रों की विस्तृत सामग्री श्री अरविन्द साहित्य का एक रोचक अंग बन गई। इन सरल और सरस पत्रों में एक आत्मीयता है, एक निजीपन है, एक महायोगी द्वारा साधकों को पथ-प्रदर्शन के लिए दी गई उचित सामग्री है जिसमें न बौद्धिक उलझनें हैं, न सैद्धान्तिक लम्बी-लम्बी व्याख्याएं। श्री अरविन्द के हाथ के सुन्दर अक्षरों में लिखे गए पत्रों कोउनके शिष्यों ने अमूल्य सम्पत्ति के रूप में वर्षों तक अपने पास रखा तथा मित्रों को दिखाने तक ही उनका उपयोग रहा किन्तु कालान्तर में उनके व्यापक उपयोग के लिए श्री अरविन्द के पत्र (भाग १,२), कारिस्पाण्डेन्स विद श्री अरविन्द (भाग १,२—नीरदवर्ण) इत्यादि ग्रन्थों के रूप में ये पत्र विविध प्रकार से प्रकाशित किए गए। श्री अरविन्द के इन पत्रों में जीवन का उद्देश्य, पूर्ण योग, दर्शन, साधना आदि पर सुन्दर सामग्री के अतिरिक्त कितने ही अन्यान्य विषयों पर महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। इन विषयों में दर्शन, विज्ञान, राजनीति, मानव-विकास, कला, साहित्य प्रेम, भक्ति, कर्म, ध्यान, चिंतन, एकाग्रता, नीरवता, पूजा, भोजन, कामवासना, निद्रा, स्वप्न, रोग, उन्माद, औषधि, चिकित्सा पद्धतियां, आश्रम, माताजी, श्री अरविन्द का अपना जीवन इत्यादि समाविष्ट हैं। चैत्यपुरुष, अतिमानस, अधिमानस आदि कठिन तत्त्वों पर यहां सरल भाषा में महत्त्वपूर्ण विवेचन मिलता है।

इन पत्रों में से अनेक के द्वारा इस धारणा का भी खण्डन हो जाता है कि श्री अरविन्द सदैव गम्भीर बने रहने वाले, कभी न हँसने वाले, महायोगी थे। उनके हँसते, खिलखिलाते, उपहास करते पत्रों से उनके व्यक्तित्व का मनोरम स्वरूप सामने आता है। सभी प्रकार के पत्रों से श्री अरविन्द के बहुमुखी व्यक्तित्व की एक अन्तरंग झलक मिलती है। इन पत्रों की एक बहुत संक्षिप्त झांकी यहां प्रस्तुत है।

साहित्यिक शैली और योग

श्री नीरदवर्ण ने श्री अरविन्द से पूछा था कि प्रभावी शैली के लिए अध्ययन आवश्यक है तो आपको अपनी शैली वनाने में अत्यधिक अध्ययन से बड़ी सहायता मिली होगी। श्री अरविन्द का उत्तर था—"क्षमा करिए! मैंने कभी शैली को बनाया नहीं, कोई भी सजीव शैली वनाई नहीं जा सकती। यह तो दूसरी जीवित वस्तुओं के समान ही जन्मती है और विकसित होती है। निस्सन्देह इसका पोषण मेरे अध्ययन से हुआ होगा किन्तु यह अध्ययन विशाल नहीं था—मैंने अपेक्षाकृत कम पढ़ा है—(भारतवर्ष में ऐसे लोग हैं जिन्होंने मुझसे पचास गुना या सौ गुना तक भी पढ़ा है), केवल मैंने उस थोड़े से अधिक लाभ उठा लिया है। शेष के लिए तो योग ही है जिसने मेरी शैली को चेतना, सूक्ष्मता और चिन्तन व अवलोकन की विशुद्धता, वृद्धिगत प्रेरणा और उचित विचार, शव्द-रूप, ठीक बिम्ब और रूप के वृद्धिगत अन्तः प्रज्ञात्मक विवेक (आत्मालोचक) के विकास द्वारा विकसित किया है।

श्री नीरदवर्ण ने फिर प्रश्न किया कि क्या यह योग-शक्ति को अनावश्यक महत्त्व देना नहीं है क्योंकि आध्यात्मिक विषयों में तो उसका महत्त्व स्वीकार्य है किन्तु कलात्मक या वौद्धिक बातों में उसका क्या महत्त्व? श्री दिलीप कुमार राय का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि वह योगबल न पाता तो भी ऐसा ही होता। श्री अरविन्द ने समझाते हुए लिखा था कि यदि योगशक्ति का लाभ नहीं मानोगे तो एक अच्छी कविता भी न लिख पाने वाले दिलीप कुमार राय को यहां आने के बाद शीघ्र ही लयपूर्ण, छंदोबद्ध रचना करने में निपुण कवि के रूप में विकास की कैसे व्याख्या करोगे? और फिर स्वयं अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा था कि वे चित्रकला को बिना सीखे ही योग-शक्ति द्वारा ही तो घंटे भर में वर्ण, रेखा और परिरूप का बोध प्राप्त कर सके थे। और कांट या हीगेल या ह्यूम या बर्कले सदृश कठिन दार्शनिकों के लिखे हुए एक पृष्ठ को पढ़कर ही "स्तब्ध और अबूझे और थके या पूर्ण उदासीन" हो जाने वाले वे स्वयं योग-शक्ति से ही तो 'आर्य' प्रारम्भ करते ही पृष्ठ-पर-पृष्ठ लिखने लगे थे और "अब एक महान दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हैं।" पहले दो मासों के परिश्रम से जो एक-दो कविता लिखी जा सकती थी, उसके स्थान पर प्राणायाम व एकाग्रता के अभ्यास के उपरांत एक दिन में पृष्ठ-पर-पृष्ठ लिखने तथा एक बड़े दैनिक पत्र के सम्पादन की क्षमता तथा प्रत्येक मास दर्शन के ६० पृष्ठों को लिखने की क्षमता प्राप्त कर ली थी। अंत की कुछ पंक्तियां एक शिक्षक की वाणी में आत्मीयता भरी डांट लिए हुए हैं—"कृपया कुछ विचार करो और सीधा अनाप-शनाप मत बोला करो। जो काम सामान्यतया एक लम्बे परिश्रमपूर्ण, निष्ठायुक्त और गम्भीर संवर्धन से हो सकता हो, वही योग

द्वारा कुछ क्षणों या कुछ दिनों में भी किया जा सके तो भी इससे योग-बल की सामर्थ्य स्वयं सिद्ध हो जाती है। किंतु जो क्षमता थी ही नहीं, वह शीघ्र एवं स्वतः प्रबुद्ध हो जाती है या दुर्बलता उच्चतम शक्ति में परिवर्तित हो जाती है या एक अवरुद्ध गुण उतनी ही शीघ्रता से धारावाहिक व सरल प्रभुता में परिवर्तित हो जाता है। यदि तुम इस प्रमाण को भी न मानो, तो तुम्हें कोई प्रमाण भी मनवा नहीं सकेगा क्योंकि तुम दूसरी प्रकार से सोचने का निश्चय कर चुके हो।" कितनी सरल और मर्मस्पर्शी तथा तर्कसम्मत व संतुलित भाषा में बात कही गयी है!

भारतमाता —एक सत्य

श्री नीरदवर्ण ने पूछा था कि आपने जो यह लिखा था कि आप भारत को जड़ पदार्थ मात्र नहीं अपितु सजीव माता मानते हैं तो क्या यह सत्य की अनुभूति के अनुसार लिखा गया था या मात्र काव्यात्मक या देश-भक्तिपूर्ण उद्गार था? श्री अरविन्द ने उत्तर में लिखा था —"प्रिय श्रीमान् जी! मैं भौतिकवादी नहीं हूं। यदि मैंने भारत को एक भौगोलिक क्षेत्र मात्र के रूप में देखा होता, जिसमें अनेक कम या अधिक रोचक लोग रहते हैं, तो उस तथाकथित क्षेत्र के लिए मैंने अपना मार्ग त्याग कर इतना न किया होता।" फिर उन्होंने व्यंग्यपूर्वक कहा था कि इसे मात्र काव्यात्मक या देशभक्तिपूर्ण उद्गार कहना ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति मांस, त्वचा, हड्डियों आदि को तो यथार्थ माने किंतु मन व आत्मा को मात्र मनोवैज्ञानिक संस्कार माने जो "खाए हुए भोजन से और ग्रंथियों की क्रिया से निर्मित हैं।"

भविष्य का भारत—बोल्शेविज्म या गुंडाराज?

१६ सितम्बर १९३५ के एक प्रश्न में श्री नीरदवर्ण ने पूछा था कि बंगाल में हिन्दू परिवारों पर मुसलमानों के अत्याचारों के जो समाचार मिले हैं उनसे बड़ी निराशा होती है, स्वतन्त्र भारत में तो यह सब रुकेगा न? स्वतन्त्रता तो आएगी न? श्री अरविन्द ने उत्तर दिया था—"हां, वह सब निश्चित हो चुका है। केवल उसके क्रियान्वयन की बात रह गई है। प्रश्न यह है कि भारत अपनी स्वतन्त्रता से क्या करेगा? उपर्युक्त प्रकार का काम? बोल्शेविज्म? गुंडाराज! बातें अनिष्ट-सूचक लगती हैं।"

दो दिन बाद श्री नीरदवर्ण ने उनसे कहा था कि भारत स्वतन्त्र होकर क्या करेगा, यह चिंता व्यर्थ है। आप पहले अपनी आध्यात्मिक शक्ति से भारत को स्वतंत्र करा दीजिए—आपका 'अतिमानस' सब ठीक कर देगा। इत्यादि। श्री अरविन्द का उत्तर मीठी फटकार से भरा हुआ था—"तुम सर्वाधिक अविवेकी प्राणी हो। मैं तुम्हें तर्कयुक्त बात करना और बुद्धिमान बनाने का प्रयत्न कर रहा

हूं, किंतु लगता है कि सब व्यर्थ ही रहा। क्या मैंने तुम्हें नहीं बता दिया है कि स्वतंत्रता की व्यवस्था हो चुकी है और ठीक-ठाक वह स्वयं को विकसित कर लेगी। तब उसमें मेरे परेशान होने का अब क्या लाभ है? भारत अपनी स्वतंत्रता से क्या करेगा इसकी अभी व्यवस्था नहीं हुई है—और इसीलिए मैं इस विषय की चिंता कर रहा हूं। पूंछ पकड़ कर 'अतिमानस' को घसीट लाना बेसिर-पैर की बात है। कुछ व्यावहारिक और समझदार बनो।"

वाह रे तर्क !

९ फरवरी १९३५ के पत्र में श्री नीरदवर्ण ने कहा था कि आप अपने उदाहरण से अपने तर्कों की पुष्टि करते हैं और अपने विचारों को पुष्ट करते हैं तो इससे सिद्ध तो कुछ होता नहीं क्योंकि अवतारों के लिए जो संभव है वह हमारे जैसे सामान्य मानवों के लिए संभव नहीं है। श्री अरविन्द ने उत्तर में लिखा था—"यदि मैं इन बातों को कर सका या वे मेरे योग में घटित हो सकीं तो इसका अर्थ यह है कि वे की जा सकती हैं और इस कारण पार्थिव चेतना में ये विकास और रूपान्तर संभव हैं।"

इस पर श्री नीरदवर्ण ने अन्तर्निहित शक्तियों का सिद्धान्त रखा। श्री अरविद ने उसे खोखला सिद्ध किया क्योंकि जब यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि क्या छिपा है. क्या छिपा नहीं है, तब तो, यदि कायरों को योग द्वारा वीरों में बदला जा सके तो बाद में यह कह देना कि यह शक्ति तो अंतर्निहित थी, कोई तर्क नहीं हुआ। श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा था कि प्रकृति के नियमों को जानने, न जानने और उन्हें उच्चतर शक्ति से बदल पाने, न बदल पाने पर ही सब कुछ निर्भर करता है।

अगले दिन श्री नीरदवर्ण ने तर्क दिया कि चूंकि 'ये बातें' आप में हो सकीं, इसलिए पार्थिव चेतना में संभव है। किंतु इतिहास में केवल एक ईसा, एक बुद्ध, एक कृष्ण हुए हैं, ऐसे ही 'एक अरविन्द' भी रहेंगे। यह नियम टूट कैसे सकता है? क्योंकि ऐसा कभी नहीं हुआ है, इसलिए यह कभी नहीं हो सकता। श्री अरविन्द का उत्तर था—"वाह रे तर्क! क्योंकि ऐसा कभी नहीं हुआ है, इसलिए यह कभी नहीं हो सकता! तब तो पृथ्वी का सारा विकास जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) के बहुत पहले ही रुक गया होता। जब ये केवल गैसों का समूह था, जीवन नहीं था तो जीवन नहीं हो सकता था—जब जीवन ही था, मन नहीं था, तब मन नहीं हो सकता था। अब मन है किन्तु उससे परे कुछ नहीं, किसी में अतिमानस की अभिव्यक्ति नहीं हुई है, अतः अतिमानस कभी नहीं आ सकता। सुभान अल्लाह! शाबाश! शाबाश! बाहरी मानव-तर्कबुद्धि।" आगे उन्होंने इसका खण्डन किया था कि उन्हें अवतार मानकर उनकी सफलताओं को दूसरों के लिए असंभव

माना जाए। श्री अरविन्द के शब्द थे—"प्रश्न यह नहीं था कि ऐसा पहले हुआ या नहीं अपितु यह कि क्या यह किया जा सकता है?…प्रश्न यह था कि नवीन शक्तियां, जो अभी तक इस जीवन में, व्यक्तित्व में अभिव्यक्त न हुई हों, योग बल से अकस्मात प्रकट हो सकती हैं या नहीं। मैं कहता हूं कि वे हो सकती हैं और मैंने अपना उदाहरण प्रमाण रूप में दिया था। मैं दूसरे उदाहरण भी दे सकता था।"

बाद में ११ फरवरी के पत्र में श्री नीरदवर्ण ने पूछा था कि मेरे 'कुतर्क' पर कुछ बताइए। श्री अरविन्द ने तब उन्हीं के पूछे गए प्रश्नों की भाषा में से लिखा था—

"कुतर्क क्रमांक १—क्योंकि कुछ चीज़ें हुई नहीं हैं इसलिए वे होंगी भी नहीं।
क्रमांक २—क्योंकि श्री अरविन्द अवतार हैं, अतः उनकी साधना का मानव जाति के लिए कोई अर्थ नहीं है।
क्रमांक ५—(और अंत में, स्थानाभाव के कारण)
क्योंकि मैं डाक्टर हूं अतः हास्य हो तो भी मैं समझ नहीं पाता।"

पत्रों में कविताओं का विनोद

कभी-कभी श्री नीरदवर्ण विनोद में चटपट कविताएं लिखते, श्री अरविन्द का उत्तर भी सरस होता। २१ नवम्बर, १९३६ को श्री नीरदवर्ण ने लिखा था—

"गुरु,
मेरा सर, मेरा सर
और कम्बख्त ज्वर—
मैं तो गया आधा मर।"

श्री अरविन्द ने उत्तर में लिखा था कि "कल्पना करो कि तुम किसी नाजियों के नज़रबन्दी-शिविर में जर्मन-कम्युनिस्ट होते तो तुम्हारे साथ क्या बीतती, तब तुम्हें लगेगा कि केवल ठण्ड व सिर-दर्द उसकी तुलना में कितने कम कष्ट हैं—

दूर करो ठंडक को
उतार फेंको ज्वर,
हो प्रसन्न, साहसी बनो
रहो चिर अमर।"

अस्वस्थ श्री नीरदवर्ण के एक पत्र में (६ मार्च, १९३६) फिर एक कविता थी—

"मेरा फफोला फूट गया और देख आप लो।
उदासी से मुक्त मैं गया हो।
धन्यवाद गुरु देव, धन्यवाद आपको!"

श्री अरविन्द ने बताया कि कैसे उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति त्याग लगाकर फफोला फोड़ने में सफलता पाई थी और फिर लिखा था—

"तदर्थ धन्यवाद ईश्वर को !
फफोले से मुक्त हुए
कविताओं को रचते हुए
हँसो और मोटे बनो।"

जीवन का सर्वप्रथम उद्देश्य

श्री अरविन्द के पत्रों में गम्भीर सामग्री भी विपुल है जो साधकों के लिए आवश्यक थी ही। एक साधक को उन्होंने लिखा था—"भगवत्प्राप्ति ही आध्यात्मिक सत्य तथा आध्यात्मिक जीवन की खोज का सर्वप्रथम उद्देश्य है; यही एकमात्र आवश्यक वस्तु है और सब कुछ इसके बिना निरर्थक है। भगवान जब मिल जाएं तो फिर उन्हें अभिव्यक्त करना···। जड़ प्राकृतिक स्तर पर एकता का तत्त्व क्रियान्वित करना या मानव जाति के लिए काम करना सत्य का मानसिक मिथ्या रूपान्तर है—ये चीजें आध्यात्मिक अन्वेषण का प्रथम या सच्चा उद्देश्य नहीं हो सकतीं।"

भगवान से 'आनन्द' के लिए प्रेम नहीं

एक साधक को उन्होंने लिखा था कि उसका यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है कि "क्योंकि हमें ज्ञात है कि भगवान से मिलन आनन्द उत्पन्न करेगा, अतः आवश्यक रूप में आनन्द के लिए ही हम मिलन चाहतेहैं।" श्री अरविन्द केअनुसार, भगवान से उनके निज के लिए, निर्हेतुक, प्रेम करना चाहिए। उन्होंने तीन उदाहरण दिए थे—"ऐसा घटित हो चुका है और मनुष्यों ने भोग या प्रतिफल की किसी भी आशा के बिना स्त्रियों से प्रेम किया है, उम्र ढल जाने और सौन्दर्य समाप्त होने के बाद भी स्थिरतापूर्वक, प्रगाढ़ राग से प्रेम किया है," और "देशभक्त अपने देश से केवल तभी प्रेम नहीं करते जब वह समृद्ध, शक्तिशाली, महान होता है और उसके पास उन्हें देने के लिए बहुत कुछ होता है, अपितु देशप्रेम तभी अत्यन्त प्रचण्ड, प्रगाढ़, पूर्ण निरपेक्ष रहा है जब देश निर्धन, अवनत और दीन था और अपनी सेवा के प्रतिफल के रूप में देने के लिए उसके पास हानि, क्षति, यंत्रणा, कैद और मृत्युके अतिरिक्त कुछ नहीं था; परन्तु यह जानते हुए भी कि वे उसे अपने जीवन में कभी स्वतंत्र नहीं देख सकेंगे, मनुष्य उसके लिए जीते रहे, उसकी सेवा करते रहे और उसके लिए मरे हैं—केवल उसके 'निज' के लिए, जो कुछ वह दे सकता था, उसके लिए नहीं।" और "मनुष्यों ने सबसे प्रेम किया है, सत्य के ही लिए, और उसकी जो कुछ खोज या प्राप्ति वे कर सकते थे उसके लिए उन्होंने निर्धनता, यातना एवं

साक्षात मृत्यु तक अंगीकृत की है, वे सदा उसकी खोज करते रहने मात्र में भी संतुष्ट रहे हैं, उसका पता नहीं पा सके, फिर भी उन्होंनेखोज कदापि नहीं छोड़ी।" और इन तीनों उदाहरणों को देने के पश्चात् वे निर्देश करते हैं कि भगवान जो किसी मनुष्य या स्त्री, देश या सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं बड़े हैं, "क्या उन भगवान से उन्हीं के निज के लिए प्रेम नहीं किया जा सकता, तथा उनकी खोज नहीं की जा सकती ?"

आध्यात्मिक जीवन और विवाह

एक साधक को उन्होंने विवाह के सम्बन्ध में पूछे गए प्रश्न का मार्मिक उत्तर लिखा था —"पूरक आत्मा और विवाह के विषय में तुम्हारा जो प्रश्न है, उसका उत्तर देना आसान है। आध्यात्मिक जीवन का मार्ग तुम्हारे लिए एक दिशा में है—और विवाह बिलकुल दूसरी तथा उल्टी दिशा में। पूरक आत्मा-विषयक सब बातचीत एक पर्दा है जिससे मन निम्नप्राणिक प्रकृति की भावनात्मक, संवेदनात्मक तथा भौतिक कामनाओं को ढँकने की चेष्टा करता है।···तुम जो यथासंभव आध्यात्मिक पर्दे की आड़ में, पारिवारिक तथा वैवाहिक जीवन के ऐश-आराम और भोग-विलास की तथा साधारण उत्तेजनात्मक इच्छाओं एवं स्थूल विषय-वासनाओं के उपभोग की लालसा की पूर्ति करना चाहते हो सो इस मार्ग के अन्तर्गत नहीं है—अपितु ये चेष्टाएं जिन शक्तियों को विकृत करतीं तथा जिनका दुरुपयोग करती हैं,उन्हें शुद्ध तथा रूपान्तरित करना ही इस मार्ग के अन्तर्गत है।" आगे उन्होंने समझाते हुए कहा था—"ये मानवीय और पाशविक तृष्णाएं कोई ऊंची वस्तु नहीं हैं, ऊंची वस्तु है दिव्य आनन्द जो उनके ऊपर और परे है।"

साधना और साहित्य

महायोगी श्री अरविन्द स्वयं उत्कृष्ट लेखक थे और साधना से साहित्य-रचना का विरोध नहीं मानते थे। एक पत्र में उन्होंने साहित्यकार और योगी का अन्तर बताते हुए लिखा था—"साहित्यकार वह होता है जो साहित्य तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों से स्वयं उन्हीं के लिए प्रेम करता है। एक योगी, जो लेखन कार्य करता है, साहित्यकार नहीं होता क्योंकि वह तो केवल वही कुछ लिखता है जो अन्तर संकल्प तथा शब्द उससे व्यक्त कराना चाहते हैं। वह निजी साहित्यिक व्यक्तित्व से अधिक महान किसी वस्तु का वाहन एवं यन्त्र होता है।"

अन्यत्र एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"बौद्धिक व्यक्तियों का योगी या ऋषि को नीचा दिखाने का प्रयत्न भी स्वाभाविक ही है क्योंकि वे जिस चेतना को मानवीय उपलब्धि का शिखर समझते हैं, योगी या ऋषि उससे ऊंची चेतना को पहुंचने का दावा करता है। कवि मन में ही वास करता है। वह आध्यात्मिक ऋषि तो

नहीं होता, परन्तु वह मानवी बुद्धि के सामने मानसिक ऋषित्व के सर्वोच्च शिखर का प्रतिनिधि होता है।"

अन्य पत्र में उन्होंने लिखा था—"अन्य प्रत्येक वस्तु की भांति साहित्य को भी दिव्य जीवन का माध्यम बनाया जा सकता है।" अन्यत्र उन्होंने लिखा था—"साहित्य, काव्य, विज्ञान तथा अन्य अध्ययन चेतना को जीवन के लिए तैयार कर सकते हैं। जब कोई योग करता है तो वे साधना के अंग केवल तभी बन सकते हैं जब उनका अनुशीलन भगवान के लिए किया जाए अथवा यदि दिव्य शक्ति उन्हें उत्तरित कर दे।"

साधना-काल में उपन्यास पढ़ने चाहिए या नहीं? इस विषय पर मार्ग दर्शन करते हुए एक साधक को श्री अरविन्द ने लिखा था—"यदि उपन्यास निम्नतर प्राण को स्पर्श करते या उभाड़ते हैं तो साधक को उन्हें नहीं पढ़ना चाहिए। उसे तो उन्हें तभी पढ़ना चाहिए जब वह उन्हें साहित्यिक दृष्टिकोण से, मानव-जीवन एवं प्रकृति के एक चित्र के रूप में देख सकता है और साथ ही उस चित्र में उलझे बिना या किसी भी प्रतिक्रिया के अधीन हुए बिना वह उसका उसी प्रकार निरीक्षण कर सकता है, जिस प्रकार योगी स्वयं इस जीवन का निरीक्षण करता है।"

क्या मानव-प्रकृति का रूपान्तर करने में साहित्य भी उपयोगी है? श्री अरविन्द ने इस प्रश्न का अत्यन्त स्पष्ट एवं रोचक उत्तर देते हुए एक साधक को लिखा था—"राम राम! यह विचार तुम्हें कहां से प्राप्त हुआ कि साहित्य लोगों का रूपांतर कर सकता है? पृथ्वी-तल पर साहित्यिक जन प्रायः सबसे अधिक असाध्य होते हैं। बाह्य मानव-प्रकृति तो केवल गंभीर चैत्य विकास या ऊर्ध्व के प्रबल और सर्वव्यापी प्रभाव के द्वारा ही बदल सकती है।"

शब्द में शक्ति

श्री अरविन्द ने शब्द में शक्ति का उल्लेख करते हुए एक पत्र में लिखा था—"शब्द में शक्ति होती है—यहां तक कि साधारण लिखित शब्द में भी शक्ति है। यदि वह अन्तःप्रेरित शब्द है तब तो उसमें और भी अधिक शक्ति होती है। वह शक्ति किस प्रकार की या किस प्रयोजन के लिए होती है, यह तो अन्तः प्रेरणा के स्वरूप एवं विषय पर निर्भर करता है और साथ ही सत्ता के उस भाग पर भी जिसे वह स्पर्श करती है। यदि वह साक्षात् परम शब्द ही है—जैसा महान धर्म-शास्त्रों, वेदों, उपनिषदों और गीता के कुछ वचनों में हम पाते हैं, तो उसमें आध्यात्मिक और उन्नायक संवेग को, यहां तक कि कई प्रकार की उपलब्धियों को भी जागृत करने की शक्ति हो सकती है। यह कहना कि यह ऐसा नहीं कर सकता आध्यात्मिक अनुभूति के विरुद्ध है।"

हिन्दू धर्म का स्वरूप

श्री अरविन्द ने एक साधक को हिन्दू धर्म के स्वरूप पर अपना दृष्टिकोण देते हुए लिखा था—"हिन्दू धर्म का मेरा विचार वही नहीं है जो 'ज' का है। धर्म सदैव अपूर्ण होता है क्योंकि इसमें मनुष्य की आध्यात्मिकता उसके उन प्रयत्नों के साथ मिश्रित हो जाती है जो उसकी निम्नतर प्रकृति को अज्ञानपूर्वक ऊंचा उठाने की चेष्ट करते हैं। मुझे हिन्दू धर्म उस विशाल मंदिर के समान प्रतीत होता है जो अपने समग्र रूप में महान है, परन्तु आधी टूटी-फूटी अवस्था में है, बारीकियों में विचित्र, परन्तु उस विचित्रता में भी कुछ अर्थ है—कुछ स्थानों पर वह ढह रहा है अथवा बुरी तरह से पुराना पड़ गया है; परन्तु वह एक ऐसा मन्दिर है जहां अगोचर ब्रह्म की पूजा अब भी की जाती है और जो लोग शुद्ध भावना के साथ उसमें प्रवेश करते हैं, वे अगोचर की वास्तविक स्थिति अनुभव कर सकते हैं। जो बाह्य सामाजिक ढांचा इसने अपने दृष्टिकोण के लिए बनाया है, वह दूसरी बात है।"

आशा का सन्देश

श्री अरविन्द के सभी पत्रों में आशावाद फूटा पड़ता है। वे असीम आशावादी थे क्योंकि ईश्वरीय शक्ति की असीम करुणा पर उनकी गहरी आस्था थी जो उनकी अनुभूतियों से पुष्ट हुई थी। तदनुसार ही एक शिष्य द्वारा अपने निराश मित्र द्वारा आत्महत्या के विचार पर परामर्श देते हुए उन्होंने लिखा था—"निराशा व्यर्थ है और आत्महत्या पूर्णतया अनुचित। मनुष्य चाहे कितनी भी ठोकरें खाए, यदि वह भगवान से आकांक्षा करे तो उनकी कृपा सदैव उसके साथ रहेगी और कठिनाइयों में से उबार लेगी।"

निस्सन्देह श्री अरविन्द की यह आशावादी दृष्टि प्रत्येक निराश हृदय के लिए वरदान है।

११. महान साहित्य

श्री अरविन्द के महान व्यक्तित्व का एक वैशिष्ट्य उनका गंभीर चिंतन तथा तदनुरूप लेखन है। आधुनिक युग की विश्व-भर की विभूतियों में श्री अरविन्द को अपने विशाल एवं साथ ही गम्भीरतम कहे जा सकने योग्य वाङ्मय के कारण बौद्धिकों में भी शीर्ष स्थान प्राप्त हुआ है, योगियों में तो वे असाधारण हैं ही। उनके महान जीवनीकार श्री पुराणी ने ठीक ही लिखा था—"श्री अरविन्द के व्यक्तित्व का कुछ अनुमान उनकी कृतियोंसे भी किया जा सकता है जिनमें ऊंचाई, विश्वजनीन विस्तार तथा उनके सर्वांग ग्रादर्शों व विचार की स्पष्ट झांकी मिलती है। उनकी रचनाएं एक प्रकार से उनके मानसिक व्यक्तित्व की सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। उनकी प्रतिभा का सर्वतोमुखी स्वरूप, उनकी बुद्धि की भेदन-शक्ति, उनकी असाधारण अभिव्यक्ति-क्षमता, उनकी उत्कट निष्ठा, उनकी उद्देश्य-एकांतिकता—इन सब का सहज अनुभव उनकी कृतियों के किसी भी गम्भीर पाठक को होगा। उसे यह भी लग सकता है कि श्री अरविन्द असीमित को सीमित में ले आए हैं।"

यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्री अरविन्द के वाङ्मय में धर्म, योग, दर्शन, मनोविज्ञान, शिक्षा, संस्कृति, राष्ट्रीय व विश्व-राजनीति, भारत व विश्व-इतिहास, अंग्रेज़ी साहित्य की समीक्षा, काव्य, नाटक, भाषाविज्ञान, प्राचीन ग्रंथों की व्याख्या इत्यादि की अद्भुत सामग्री है। उसमें मनोरम भाव भीहैं, गम्भीर विचार भी हैं। ऐसे-ऐसे प्रेरक विचार हैं जिनमें नवीन व सशक्त भारत का तथा अभिनव व दिव्य विश्व का निर्माण संभव है। वे किसी काल्पनिक उड़ान भरने वाले दार्शनिक या साहित्यकार की रचनाएं नहीं हैं अपितु एक सक्रिय जीवन के ७८ वर्षों के लौकिक-पारलौकिक अमूल्य अनुभव-कोष हैं, उपलब्धि-परिचय हैं, मार्गदर्शक संकेतहैं। एक ओर तो अपनी विद्वत्ता पर अभिमान करने वालों के लिए उनका साहित्य एक निकर्ष है, दूसरी ओर चिंतन के क्षेत्र में अभिनव योगदान करने वालों के लिए उनके साहित्य का स्वाध्याय एक अनिवार्यता है क्योंकि यहां वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की परम्परा का एक सर्वोत्तम विकसित कृतिकार है जिसने नए युग को जन्म देने के लिए सरस्वती की धारा बहाई।

किंतु श्री अरविन्द का वाङ्मय प्रायः अंग्रेज़ी में है और यद्यपि अब धीरे-धीरे सभी गद्यकृतियों का अनुवाद क्रमशः सुलभ होता जा रहा है किन्तु विषयों की जटिलता तथा हिन्दी अनुवादों की दुरूहता ने पाठकों का साहस प्रायः तोड़ा ही है। कई बार तो अत्यधिक श्रद्धा से अरविन्द-साहित्य के अध्यापन में जुटने वाले व्यक्तियों को भी निराशा ही हाथ लगी है। श्री अरविन्द स्वयं भी इस कठिनाई से परिचित थे। उन्होंने स्वयं कहा था कि उनके साहित्य को समझने के लिए दो बातों की बड़ी आवश्यकता है—प्रथम तो अंग्रेज़ी भाषा का बहुत अच्छा ज्ञान और द्वितीय, अभिव्यक्त विषय में रुचि और उसका प्रारम्भिक परिचय। श्री अरविन्द की अंग्रेज़ी वस्तुतः अत्यन्त उत्कृष्ट है। उसमें सरसता, लालित्य, प्रवाह, अर्थ-गाम्भीर्य इत्यादि तो है ही, प्रत्येक शब्द अपने आप में रत्न के समान जुड़ा हुआ दिखाई देता है, जिसे देखकर यही कहना पड़ता है कि ठीक भाव या विचार के लिए ठीक शब्द परख कर रखने की कला के विशेषज्ञ वर्ग में श्री अरविन्द अग्रगण्य हैं। उनकी भाषा विद्वान अंग्रेज़ों को भी यह कल्पना देने वाली है कि स्वयं उनकी भाषा में कितनी सामर्थ्य है।

श्री अरविन्द ने यह भी कहा था कि 'आर्य' पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित उनकी सभी सामग्री वस्तुतः दूसरों के लिए नहीं लिखी गई थी, अपने लिए लिखी गई थी। 'स्वांतः सुखाय' लिखने की तुलसी-भावना प्रायः प्रत्येक सच्चे लेखक की भावना होती ही है। श्री अरविंद ने भी प्रायः अपने समाधान के लिए, अपने मन-मस्तिष्क का बोझा कम करने के लिए लिखा अवश्य किन्तु विश्व-भर के बौद्धिकों के लिए उसमें अमूल्य रत्न दिखाई पड़े और इस प्रकार श्री अरविंद-साहित्य विश्व-साहित्य का शृंगार बन गया।

यद्यपि श्री अरविंद के विचारों में अनेक ऐसे हैं जिन तक पहुंच पाना सामान्य जन के लिए असंभव लग सकता है परन्तु श्री अरविंद-साहित्य से दूर रहना भी तो संभव नहीं है। गौरीशंकर के उच्च और चमचमाते शिखर का अपना आकर्षण होता ही है। उस तक जोखिम उठाकर भी पहुंचने की तीव्र लालसा मानव-मन के लिए स्वाभाविक है और श्री अरविंद के भक्तों व प्रशंसकों में से अनेक ने उनके कठिन साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है और उसका मंथन कर नवनीत को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। इन श्रद्धेय महात्माओं में श्री पुराणी, डा० इन्द्रसेन, प्रोफ़ेसर आयंगार, डा० नीरदवर्ण, श्री केशवमूर्ति, डा० सेठना, श्री छोटे नारायण शर्मा इत्यादि कितने ही नाम उल्लेख्य हैं। डा० रामनाथ शर्मा, डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, डा० शिवप्रसाद सिंह इत्यादि ने विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक शैली में श्री अरविंद के विचारों व कृतियों पर जो कार्य किया है वह भी स्तुत्य है। श्री अरविन्द द्वारा लिखित कृतियों तथा उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व, साहित्य एवं विचार-दर्शन पर लिखित सैकड़ों कृतियों की एक अत्यन्त संक्षिप्त सूची

ही यहां प्रस्तुत की जा रही है जो उनके महान कृतित्व की एक झलक तो दे ही सकती है।

श्री अरविन्द की कृतियां

१. श्री अरविन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित अंग्रेजी व हिन्दी में सम्पूर्ण श्री अरविन्द-साहित्य

श्री अरविंद के सम्पूर्ण साहित्य को अंग्रेज़ी में ३० खण्डों में प्रकाशित करने का कार्य श्री अरविंद-आश्रम (पांडीचेरी) ने जन्म शताब्दी पुस्तकालय संस्करण के नाम से किया है। अंग्रेज़ी में इन ३० खण्डों की योजना इस प्रकार कार्यान्वित हुई है—

१. वन्देमातरम्
२. कर्मयोगिन्
३. दि हारमोनी आफ वर्चू : अर्ली कल्चरल राइटिंग्स
४. राइटिंग्स इन बंगाली
५. कलेक्टिड पोइम्स : दि कम्पलीट पोइटीकल वर्क्स
६. कलेक्टिड प्लेज़ ऐण्ड शार्ट स्टोरीज़, पार्ट वन
७. कलेक्टिड प्लेज़ ऐण्ड शार्ट स्टोरीज़, पार्ट टू
८. ट्रांसलेशन्स
९. दि फ्यूचर पोइट्री ऐण्ड लेटर्स आन पोइट्री, लिटरेचर ऐण्ड आर्ट
१०. दि सीक्रेट काफ़ दी वेद
११. हिम्स टू दि मिस्टिक फ़ायर
१२. दि उपनिषद्स : टेक्स्ट, ट्रांसलेशन्स ऐण्ड कामेन्टरीज़
१३. एसेज़ आन दि गीता
१४. दि फाउण्डेशन्स काफ़ इण्डियन कल्चर
१५. सोशल ऐण्ड पोलिटिकल थाट (दि ह्यूमन साइकिल, दि आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी, वार ऐण्ड सेल्फ डिटर्मिनेशन)
१६. दि सुप्रामेण्टल मैनिफेस्टेशन अपान अर्थ ऐण्ड अदर राइटिंग्स
१७. दि आवर आफ गाड ऐण्ड अदर राइटिंग्स
१८. दि लाइफ़ डिवायन, भाग १ और २ (खण्ड १)
१९. दि लाइफ़ डिवायन, भाग २ खण्ड २
२०. दि सिन्थेसिस आफ योग, भाग १ व २
२१. दि सिन्थेसिस आफ योग भाग ३ व ४
२२. लेटर्स आन योग भाग १

२३. लेटर्स आन योग भाग २ व ३
२४. लेटर्स आन योग भाग ४
२५. दि मदर
२६. आन हिम्सेल्फ़
२७. सप्लिमेंट्री
२८. सावित्री : ए लीजेंड ऐण्ड ए सिम्बल, भाग १
२९. सावित्री : ए लीजेंड ऐण्ड ए सिम्बल भाग २
३०. इण्डेक्स

हिन्दी में जो साहित्य इस योजना के अंतर्गत अनूदित रूप में प्रकाशित हुआ है या होगा वह २० खण्डों में है तथा गद्य-कृतियों तक ही सीमित है।

२. श्री अरविन्द की वर्गीकृत कृतियां

(क) दर्शन व साधना-सम्बन्धी :

१. दिव्य जीवन (दि लाइफ़ डिवायन)
२. योग-समन्वय (सिन्थेसिस आफ़ योग)
३. भागवत मुहूर्त (दि आवर आफ़ गाड)
४. योग और उसका उद्देश्य (योग ऐण्ड इट्स आब्जेक्ट्स)
५. विकास (इवॉल्यूशन)
६. इस विश्व की पहेली (दि रिडिल आफ दि यूनिवर्स)
७. माता (मदर)
८. विचारमाला व सूत्रावली (थाट्स ऐण्ड एफारिज्म्स)

(ख) रसात्मक साहित्य :

९. सावित्री : एक आख्यान और एक प्रतीक (सावित्री : ए लीजेण्ड ऐण्ड ए सिम्बल)
१०. विविध कविताएं, नाट्य कृतियां व कहानियां तथा अनुवाद

(२२८ कविताएं, ८ पूर्ण तथा ४ अधूरी नाट्य कृतियां तथा ४-५ पूर्ण-अपूर्ण लघु कथाएं, संस्कृत, बंगला आदि की विविध कृतियों के आंशिक या पूर्णानुवाद)

(ग) प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्याएं

११. वेद-रहस्य (दि सीक्रेट आफ़ दि वेद)
१२. रहस्यमय अग्नि के सूक्त (हिम्स टू दि मिस्टिक फ़ायर)
१३. उपनिषद्-दर्शन (फ़िलासफ़ी आफ़ दि उपनिषद्स)

१४. उपनिषदों के अंग्रेज़ी अनुवाद तथा अनुवाद-सम्बन्धी कुछ निबन्ध
१५. गीता-प्रबन्ध (एसेज़ आन दि गीता)

(घ) भारतीय धर्म, संस्कृति और समाज

१६. भारतीय संस्कृति के आधार (फ़ाउंडेशन्स आफ़ इंडियन कल्चर)
१७. धर्म और जातीयता
१८. भारत का मस्तिष्क (ब्रेन आफ़ इंडिया)
१९. बंकिम-तिलक-दयानंद
२०. भारत में पुनर्जागरण (रिनेसां इन इंडिया)

(ङ) मानवता

२१. मानव-चक्र (दि ह्यूमन साइकिल)
२२. मानव-एकता का आदर्श (दि आइडियल आफ़ ह्यूमन यूनिटी)
२३. युद्ध और आत्मनिर्णय (वार ऐण्ड सेल्फ डिर्टमिनेशन)

(च) साहित्य-समीक्षा

२४. भावी कविता (फ्यूचर पोइट्री)
२५. व्यास और वाल्मीकि (व्यास ऐण्ड वाल्मीकि)
२६. कालिदास (भाग १, २)

(छ) विविध कृतियां

२७. निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त (दि डाक्ट्रिन आफ़ पैसिव रेसिस्टेंस)
२८. अतिमानव (हि सुपरमैन)
२९. विचार और झलकियां (थाट्स ऐण्ड ग्लिम्प्सिज़)
३०. मृतकों का वार्तालाप (कान्वर्सेशन्स आफ़ दि डेड)
३१. कर्मयोगी का आदर्श (आइडियल आफ़ दि कर्मयोगिन)
३२. पुनर्जन्म की समस्या (दि प्राब्लम आफ रिबर्थ)
३३. जगन्नाथ का रथ
३४. विचार और समीक्षाएं (व्यूज़ ऐण्ड रिव्यूज़) तथा
३५. सम्पादित पत्र, पत्राचार इत्यादि

श्री अरविन्द की सभी कृतियों का संक्षिप्त परिचय देना भी एक स्वतंत्र ग्रन्थ का विषय है किंतु उनकी कुछ प्रमुख कृतियों की मात्र रूपरेखा का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत है।

१. दिव्य जीवन (दि लाइफ डिवायन)

श्री अरविन्द कृत 'दिव्य जीवन' (दि लाइफ़ डिवायन) तत्त्वदर्शन का एक अद्भुत ग्रन्थ है। इस विशाल कृति के दो भाग हैं—प्रथम है 'सर्वव्यापी सत्तत्त्व और विश्व', द्वितीय के दो खण्ड हैं—'अनन्त चित् तथा अज्ञान' और 'ज्ञान तथा आध्यात्मिक विकास'। प्रथम में २८ अध्याय हैं और द्वितीय के प्रत्येक खण्ड में १४ अध्याय। इस प्रकार कुल ५६ अध्यायों में १२७८ पृष्ठों की सामग्री सँजोई गई है।

श्री अरविन्द-दर्शन की तात्त्विक मीमांसा अत्यन्त कुशलतापूर्वक इस कृति में मिलती है। संसार और ब्रह्म में कोई विरोध नहीं है, ब्रह्म ही अवरोही क्रम में जड़-तत्त्व तक पहुंचता है और जड़तत्त्व ही आरोही क्रम में अपने ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करता है—क्रमशः प्राण, मन, अतिमन से होते हुए। श्री अरविन्द के अनुसार 'मन' से बढ़कर 'अतिमन' (अर्थात् प्राचीन भाषा के 'विज्ञान') तक पहुंचने की प्रकृति-योजना ही उस मानव-आकांक्षा का मूल है जो दिव्य जीवन, अमरत्व आदि की खोज के रूप में प्रकट होती रही है। श्री अरविन्द का दर्शन उनकी अनुभूतियों पर तो आधारित है ही, वेद, उपनिषद, गीता आदि के द्वारा भी निर्दिष्ट है, यह श्री अर-विन्द ने प्रस्थापित किया है। श्री अरविन्द का दर्शन अद्वैत वेदान्त का ही निर्मलतम रूप है जिसमें सब कुछ 'ब्रह्म' ही है, न केवल 'अयमात्मा ब्रह्म' अपितु 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' भी। श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा स्वयं सच्चिदानन्द है और संसार को अज्ञान की दृष्टि से देखने के स्थान पर ज्ञान की दृष्टि से देखना ही जगत के सच्चि-दानन्द रूप को देखना है। विकास-क्रम में मानव 'अतिमानव' बनेगा क्योंकि जड़तत्त्व में प्राण, फिर मन तो प्रकट हो चुके अब 'अतिमन' प्रकट होगा और तब पृथ्वी पर दिव्य जीवन, 'स्वर्ग' की कल्पना साकार होगी। इसी पृथ्वी पर अतिमानस के अव-तरण के लिए ही श्री अरविन्द की साधना चलती रही थी। उनकी सम्पूर्ण साधना का तत्त्वदर्शन 'दिव्य जीवन' ग्रन्थ में विद्वत्तापूर्वक समाहित है। श्री अरविन्द-दर्शन प्लेटो, स्पिनोज़ा, हीगेल आदि के बौद्धिक स्तर का तो है ही, उसका वैशिष्ट्य यह है कि वह महायोगी की अनुभूति पर आधारित है, अनुभव का क्रमबद्ध विवेचन, बौद्धिक प्रतिपादन मात्र है जबकि पाश्चात्य दार्शनिक निरेचितक थे, 'अनुभूति के स्रोत योग से अनभिज्ञ।

निस्सन्देह 'दिव्य जीवन' को 'अतिमानस का घोषणापत्र' कहा जा सकता है। उसमें तत्त्व, हित और पुरुषार्थ की उत्कृष्ट सामग्री है। उसमें अनवरत, अगाध, उच्च, सूक्ष्म और कठिन चिंतन का उत्कृष्ट परिपाक है। विश्व-भर के विविध विचारों और अनुभूतियों को स्वीकार ही नहीं, यथास्थान प्रतिष्ठित करने वाला, एक महान संश्लेषणात्मक, समन्वयात्मक विचारदर्शन इस भव्य कृति में मिलता है। अंग्रेज उपन्यासकार डोरोथी रिचार्डसन के ये शब्द निस्सन्देह सारपूर्ण हैं—

"क्या श्री अरविन्द से अधिक समन्वयात्मक चेतना पृथ्वी पर कभी रही है ? वह तो इस शब्द की चरमसीमा तक एकीकरण करने वाले हैं।" इसी कारण ग्रन्थ पर मुग्ध होकर स्वर्गीय डा० एस० के० मैत्र ने लिखा था कि यह भावी दर्शन है, विश्व-दर्शन है।

इस ग्रन्थ की पंक्ति-पंक्ति ज्ञान-कोष है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं —

"वस्तुओं को स्थिर रूप से तथा उनको समग्र भाव से देखना मन के लिए संभव नहीं, परन्तु परात्पर अतिमानस का तो यह अपना स्वभाव ही है।"

× × ×

"एकता में विभिन्नता व्यक्त जगत का विधान है, अतिमानसिक एकीकरण तथा संयुक्तीकरण इन अनेकताओं को अवश्य समन्वित करेगा, किन्तु उनका मूलोच्छेद कर देना प्रकृतिस्थ आत्मा का उद्देश्य नहीं है।"

× × ×

"सान्त भी अनन्त की एक स्थिति है, उसका विरोध नहीं; व्यक्ति तो विश्व तथा परात्पर की आत्माभिव्यक्ति है, उसका विरोध नहीं और न उससे सर्वथा भिन्न कोई वस्तु है।"

२. 'सावित्री'

श्री अरविन्द कृत 'सावित्री' महाकाव्य तीन भागों में है जिसके कुल १२ पर्वों में ४९ सर्गों की योजना की गई है। श्री अरविन्द की योजना ५१ सर्गों की थी और दो सर्ग अवश्य ही खो गए माने जाते हैं क्योंकि अष्टम पर्व 'मृत्यु पर्व' में एक ही सर्ग उपलब्ध है जिसको 'सर्ग ३' लिखा गया है। निस्सन्देह यह एक विशाल ग्रन्थ है और श्री अरविन्द के दर्शन व साधना की काव्यबद्ध झांकी कही जाने योग्य कृति है। सावित्री-सत्यवान की प्रसिद्ध कथा को जो 'महाभारत' में लिखित है, ग्रहण करके एक अद्भुत कलात्मकता के साथ प्रतीकों की भाषा में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत में जो कथा केवल १८ श्लोकों में वर्णित है, उसको २३८१३ उत्कृष्ट काव्य पंक्तियों में प्रस्तुत करना एक योगी-कवि के लिए ही संभव प्रतीत होता है।

यह महाकाव्य जनसाधारण के लिए नहीं है। कोई भी सूक्ष्म कला पाठक से भी कला-अभिज्ञता की मांग करती है। 'सावित्री' महाकाव्य में भी यही बात है। " 'सावित्री' ऐसे दर्शन या अनुभव का अंकन है जो साधारण नहीं है और साधारण मन के अनुभवों से बहुत दूर है।" पाठक में यदि पर्याप्त बौद्धिक ज्ञान या साधना से प्राप्त क्षमता होगी, तभी वह उसे समझने में प्रवृत्त हो सकेगा, सफल हो सकेगा और अद्भुत आनन्द प्राप्त कर सकेगा। एक आदर्श काव्य के समान ही इसकी

रचना महाकवि ने 'स्वान्तःसुखाय' की थी, दूसरों के लिए नहीं। उनके शब्दों में ही—"यदि मेरे मन में सामान्य पाठकों के लिए 'सावित्री' लिखने की बात होती तो मैं 'सावित्री' बिलकुल लिखता ही नहीं। वास्तव में मैंने स्वयं अपने लिए 'सावित्री' लिखी है और······उन लोगों के लिए लिखी है जो अतिमानस के स्तर पर कार्य कर सकते हैं।"

'सावित्री' महाकाव्य के स्वरूप को प्रोफेसर रेमण्ड फ्रैंक पाइपर के शब्दों में सुन्दरता से रखा गया है —"हम जानते हैं कि हमें कलात्मक सीमाओं की पराकाष्ठा तक काव्यकला का उपयोग, मानव जाति की शाश्वत जीवन-प्राप्ति और लालसा तथा संघर्षों को अभिव्यक्त करने के लिए करना चाहिए। और सौभाग्य से तात्त्विक व रहस्यवादी काव्य के एक वृहत् नए रूप ने नवीन प्रकाश-युग का का उद्घाटन कर दिया है।···१६५० में दिवंगत होने से पूर्व प्रायः पचास वर्षों में श्री अरविन्द ने इसकी रचना की थी जो संभवतः अंग्रेज़ी भाषा का सबसे महान महाकाव्य है और आधुनिक विश्व की किसी भी भाषा में सबसे विशाल काव्य-रचना है। मैं निर्भयता से यह कहने का साहस कर सकता हूं कि यह आज तक रचित विश्वपरक कविताओं में सबसे अधिक विस्तृत, सुगठित, सुन्दर और पूर्ण है। इसमें प्रतीक रूप से आदिकालीन विश्वव्याप्त शून्य से लेकर पृथ्वी के अंधकार और संघर्षों में होते हुए अतिमानसिक आध्यात्मिक अस्तित्त्व के उच्चतम प्रदेशों तक सब कुछ है और यह मानव से सम्बन्धित प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात को ऐसे काव्य के द्वारा प्रकाशित करती है जो अद्वितीय विशालता, भव्यता और आलंकारिक कान्ति से युक्त है। संभवतः 'सावित्री' मानव मन को पूर्ण ब्रह्म के प्रति प्रसारित करने वाली सबसे अधिक प्रभावी कलात्मक कृति है।"

इस भव्य महाकाव्य की झलक देने के लिए कुछ स्थलों की चर्चा यहां की जा रही है। अपनी प्रकृति के उच्चतर स्वरूप के प्रति जागरूक मानव के प्रतीक अश्वपति की योग-साधना का वर्णन श्री अरविन्द-दर्शन के अनुरूप किया गया है। वह साधारण मानव नहीं था अपितु "उसकी आत्मा तो विशालतर क्षेत्रों से क्षणभंगुर दृष्टि वाले भूतल पर उतरी थी। वह तो अमरतत्त्व से आया एक उपनिवेश बसाने वाला व्यक्ति था। भूतल के संदिग्ध पथों पर वह एक संकेत किरण था।···उसका ज्ञान दिव्य प्रकाशमय था।···वह अतिमानवीय स्वप्नों का कोषाध्यक्ष था।···उसकी आत्मा शाश्वतता की प्रतिनिधि के सदृश जी रही थी। उसका मन स्वर्ग पर आक्रमणरत अग्नि के सदृश था। उसकी इच्छा प्रकाश के पथों की आखेटक थी। उसका प्रत्येक कर्म परमात्मा का चरणचिह्न अंकित करता था···। "एक जीवन से दूसरे जीवन, एक स्तर से दूसरे स्तर तक यात्रा करते-करते" वह काल-पथों का यात्री शाश्वतता के सीमा-प्रदेशों तक जा पहुंचा" इत्यादि।

जब सावित्री ने सत्यवान को अपना पति चुन लिया तब वह घर लौटी। वहां

विराजमान नारद ऋषि ने बताया कि सत्यवान हर दृष्टि से श्रेष्ठ है, फिर भी उस की आयु का केवल एक वर्ष शेष रह गया है अतः वह कोई अन्य वर चुन ले। सत्यवान अपने राज्यभ्रष्ट पिता-माता के साथ वन में निर्धनता का जीवन व्यतीत कर रहा था किन्तु तो भी सावित्री अपने निर्णय पर अडिग रही। महाकवि के शब्दों में सावित्री की अद्भुत निष्ठा का वर्णन दर्शनीय है—'मेरा संकल्प, शाश्वत संकल्प का अंश है। मेरा भाग्य वही है जो मेरी आत्मा की शक्ति रचेगी। मेरा भाग्य वही है जो मेरी आत्मा की शक्ति धारण करेगी। मेरी शक्ति आसुरी नहीं, दिव्य है··· मानवों की साधारण आत्मा या नेत्र व अधर जो सत्यवान के नहीं हैं, मेरे लिए क्या हैं? उसकी भुजाओं से बाहर आकर, उसके अन्वेषित प्रेम-स्वर्ग से वापस आने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अपने जन्म की सार्थकता सत्यवान में अपनी आत्मा को देखने में ही पाती हूं।···मुझे यदि एक वर्ष ही मिला तो बस वही मेरा समग्र जीवन होगा किन्तु फिर भी मैं यह जानती हूं कि मेरा इतना-सा ही भाग्य नहीं है कि जीवित रहूं, क्षण भर प्रेम करूं और मर जाऊं। क्योंकि मुझे अब पता है कि मेरी आत्मा पृथ्वी पर क्यों आई थी और मैं कौन हूं और वह कौन है जिसे मैं प्रेम करती हूं। मैंने उसको अपने अमर 'स्व' से ही देखा था। मैंने सत्यवान में ईश्वर को ही अपने प्रति मुस्कराता देखा था। मैंने मानव-मुख में शाश्वत भगवान को ही देखा है।"

और अन्त में द्रष्टव्य हैं—श्री अरविन्द की ये पंक्तियां—

"सत्य विशालतर है, अपने रूपों से वृहत्तर,
उन्होंने उसकी सहस्रों मूर्तियां बनाई हैं,
और उसे उन पूज्य मूर्तियों के पीछे छिपा दिया है
किंतु वह तो स्वरूपस्थ और अनन्त है।"

३. 'वेद-रहस्य'

श्री अरविन्द कृत 'वेद-रहस्य' में वेद को देखने की शुद्ध दृष्टि पर प्रकाश डाला गया है। इसमें चार भाग हैं जिसमें से पहला भाग 'वेद-रहस्य' नाम का ही है और विवेचनात्मक, मीमांसात्मक, शेष तीन अनुवादपरक। प्रथम भाग में तेईस अध्याय हैं। इस भाग में श्री अरविन्द ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक पाश्चात्य पद्धतियों से किए गए भाष्यों तथा सायणाचार्य कृत कर्मकाण्डपरक भाष्य की अपूर्णता अथवा उनका मिथ्यात्व दर्शाया है। श्री अरविन्द की पद्धति भावात्मक व रचनात्मक है, उसका आधार आध्यात्मिक अनुभूतियां हैं। श्री अरविन्द के अनुसार पाश्चात्य पद्धतियों तथा सायण-पद्धति में दोष यह है कि उनसे वेद-मंत्रों में असाधारण असम्बद्धता और घटिया अर्थगौरवहीनता दिखाई देती है जो सहस्रों वर्षों की हिन्दू-परम्परानुसार वेद के सुविख्यात ज्ञान-स्रोत के रूप से मेल नहीं खाती। "उन्हें कहा जाता

रहा वेद अर्थात् ज्ञान—जो मानव-मन को प्राप्य, सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य का नाम है। किन्तु यदि हम प्रचलित व्याख्याओं को देखें, चाहे सायण की या आधुनिक मत की, तो वेद की वह उदात्त और पवित्र प्रतिष्ठा अत्यधिक मिथ्या सिद्ध हो जाती है।" यही नहीं, इन व्याख्याओं से हमारे मन पर यह छाप पड़ती है कि आगे के धार्मिक व दार्शनिक विचारों का स्रोत उपनिषद हैं न कि वेद और यह भी कि उपनिषद अवश्य ही वेदों के कर्मकाण्डी भौतिकवाद के विरुद्ध दार्शनिकों और विचारशीलों का विद्रोह थे। किन्तु उपनिषदों की आध्यात्मिकता क्या शून्य में से आ गई थी ? इन व्याख्याओं से इस प्रश्न का कहीं कोई समाधान नहीं मिलता। और इस रिक्त स्थान को भरने के लिए जो, यह कल्पना गढ़ी गई है कि ये विचार जंगली आर्य आक्रामकों ने सभ्य द्रविड़ों से लिए थे, एक ऐसी अटकल है जिसका आधार केवल अन्य अटकलें हैं। वास्तव में ही अब यह शंका होने लगी है कि पंजाब होकर आर्य के आक्रमणों की सारी कहानी भाषा-वैज्ञानिकों की मनगढ़न्ती है।"

श्री अरविन्द ने इन व्याख्याओं का यह दोष भी दर्शाया है कि इनके द्वारा यह भी स्पष्ट नहीं होता कि यदि वेद का 'सूर्य' आकाश में चमकने वाला सूर्य ही है तो वह 'गायत्री' व 'ईशोपनिषद्' में 'दिव्य ज्ञान का देवता' कैसे बन गया ? वेदों व पुराणों के मध्य एक रिक्त स्थान की कल्पना के द्वारा ऐसे शब्दार्थ-विकास की कल्पना को श्री अरविन्द ने नितान्त थोथा बताया है—"···यह रिक्त स्थान हमारी निर्मिति है और वस्तुतः उस पवित्र साहित्य में यह है ही नहीं। जो मत मैं प्रस्तावित करता हूं वह यह है कि स्वयं ऋग्वेद मानव-विचार के उस प्रारंभ काल में आया हुआ एक बड़ा भारी प्रलेख है···जब जाति का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान···स्थूल और भौतिक अलंकारों व प्रतीकों के आवरण से आवृत्त था जो तत्त्व की अनधिकारी व्यक्तियों से सुरक्षा करते थे तथा दीक्षित व्यक्तियों के लिए तत्त्व प्रकट कर देते थे।" श्री अरविन्द आगे अपने मत को बताते हुए कहते हैं कि रहस्यवादी लोग आत्मज्ञान तथा देवों के विषय के ज्ञान को अनधिकारियों से गुप्त रखने योग्य और पवित्र मानते थे। और "इसीलिए उन्होंने एक बाह्य पूजाविधि को रखना पसन्द किया था जो प्राकृत जनों के लिए उपयोगी परन्तु अपूर्ण थी और दीक्षितों के लिए एक आन्तरिक अनुशासन का काम देती थी और इसकी भाषा को ऐसे शब्दों व बिम्बों से ढक दिया था जो विशिष्ट लोगों के लिए आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजकों के समुदाय के लिए स्थूल अर्थ, समान रूप से प्रकट करते थे। वैदिक सूक्त इसी सिद्धांत को ध्यान में रखकर रचे गए थे।" अतः श्री अरविन्द के अनुसार वेद में प्राकृत जनों के लिए जो सर्वेश्वरवाद के अनुरूप विधि-विधान व कर्मकांडी आयोजन मात्र थे, वे ही रहस्य ज्ञात हो जाने पर आध्यात्मिक अनुभूतियों व ज्ञान के महाकोष भी थे। सम्पूर्ण ग्रंथ विद्वत्ता से पूर्ण तथा श्री अरविन्द

के वेद-सम्बन्धी मत को सुदृढ़ सिद्ध करने वाला है।

४. भारतीय संस्कृति के आधार

श्री अरविन्द की कृतियों में भारतीय संस्कृति के आधार को आज भी बड़ी उत्सुकता से पढ़ा जाता है क्योंकि इसमें उस मनीषी के भारतीय संस्कृति, साहित्य-कला इत्यादि के सम्बन्ध में व्यक्त विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। केवल एक-दो विचारों को उदाहरणार्थ यहां रखेंगे। इस कृति में श्री अरविन्द ने प्रारम्भ में ही यह बताया है कि पाश्चात्य विचारधारा से आत्मरक्षा के लिए भारतवर्ष प्रयत्नशील हो, यह आवश्यक तो है परन्तु पर्याप्त नहीं है।" प्रतिरक्षा को सफल करने के लिए एक तीव्र आक्रमण की आवश्यकता है। समस्त शक्ति, सृजन और कर्मशीलता यूरोप की ओर देखने के कारण ही भारतीयों का एक वर्ग यूरोपीय संस्कृति के प्रति सम्मोहित दिखाई देता है।" परन्तु जहां कहीं भी भारतीय आत्मा ओजस्वी रूप में प्रतिक्रिया तथा आक्रमण करने और उत्साह के साथ सृजन करने में प्रवृत्त हुई है, वहां 'यूरोपीय चमक-दमक की सम्मोहिनी शक्ति तुरन्त ही लुप्त होने लगी है।" श्री अरविन्द ने केवल यूरोपीय सभ्यता के आक्रमण से पृथक् "मज़दूर वर्ग द्वारा संचालित तथा इसकी असंस्कृत युद्धप्रियता के द्वारा अनुप्राणित प्रचण्ड कम्युनिज्म के नए आक्रमण" की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है।

श्री अरविन्द ने भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा का यूरोप व अमरीका में प्रवेश होने की घटना को महत्त्व दिया है। भारतीय आत्मा तेजस्विता के रूप में आक्रमण करे, उत्साह के साथ सृजन करे तो उसे सफलता मिलेगी, इसके समर्थन में श्री अरविन्द ने तीन क्षेत्रों से उदाहरण दिए हैं—धार्मिक क्षेत्र में थियोसाफी का आंदोलन तथा शिकागो में स्वामी विवेकानन्द का प्रकट होना, सौन्दर्य-सम्बन्धी क्षेत्रों में धूम मचा देने वाली बंगदेशीय चित्रकला तथा राजनीति के क्षेत्र में स्वदेशी आन्दोलन। स्वदेशी आन्दोलन के पूर्व "ऐसा दिखाई देता था कि अनुकरणात्मक यूरोपीय पद्धति को छोड़कर और किसी पद्धति से भारतीय भावना के द्वारा राजनीति के क्षेत्र में कुछ भी सृजन नहीं किया जा सकता किन्तु इस स्वदेशी आन्दोलन ने इस असंभवता का अतिक्रमण करने का प्रयत्न किया।" निस्सन्देह राजनीतिक क्षेत्र में भारतीयकरण के प्रयास पर भी श्री अरविन्द ने बल दिया था—"जब तक यह प्रयत्न प्रारंभ नहीं होता और सफल नहीं होता, भारत की आत्मा के लिए एक भीषण संकट बना रहेगा, क्योंकि राजनीति के क्षेत्र में यूरोपीयकरण होने से, अनेक बार सामाजिक क्षेत्र में भी वैसी ही प्रवृत्ति का दौरा चलेगा जो अपने साथ सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मृत्यु को ले आएगा।"

अन्यत्र वे एक भारी सांस्कृतिक परिवर्तन का विचार प्रस्तुत करते हैं—"आवश्यकता है एक बड़े और साहसी परिवर्तन की, छोटे-मोटे परिवर्तनों से हमारा

काम नहीं चलेगा।" काल के दबाव के अनुसार भी चिन्तन की आवश्यकता है। "आधुनिक विचार और शक्तियां एक बाढ़ के रूप में उमड़ी चली आ रही हैं और वे कोई बाधा नहीं मानेंगी। उनका सामना करने के दो ही उपाय हैं, या तो असाध्य मानकर उनका निराशामय प्रतिरोध किया जाए या उन्हें पकड़ कर अपने वश में किया जाए।...आत्मसात हुए बिना घुसने पर तो वे विध्वंसक शक्तियों की तरह काम करेंगी, और तब कुछ अंश में तो बाह्य आक्रमण के द्वारा, परन्तु उससे कहीं अधिक भीतरी विस्फोट के द्वारा यह पुरानी भारतीय सभ्यता खण्ड-खण्ड हो जाएगी।"

श्री अरविन्द यह विचार भी व्यक्त करते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति में हमारे लिए जो जीवनोपयोगी तत्त्व मिलें, उन्हें हम प्रभावी ढंग से आत्मसात करें, यह आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक है। पाश्चात्य संस्कृति तो चुपचाप पूर्व से ग्रहण करके पुष्ट हो रही है। अतः अपने नवसर्जन के साथ-साथ भारतीय भावना के अनुरूप पाश्चात्य संस्कृति से कुछ उपयोगी तत्त्व आत्मसात करने की भी आवश्यकता है। आत्मसात करना और अनुकरण करना भिन्न-भिन्न हैं। अनुकरण, आक्रामक के यंत्रों और उपायों का स्थूल और अस्तव्यस्त अनुकरण, कुछ काल के लिए उपयोगी हो सकता है, किन्तु अपने आप में यह पराजय स्वीकार करने का केवल एक अन्य प्रकार है। उपयोगी पाश्चात्य तत्त्वों की विजातीयता समाप्त करने के लिए उनका भारतीय-करण करके ही स्वीकार करना आवश्यक है।—"केवल उपयोग करना ही पर्याप्त नहीं है। उसे सफलता के साथ आत्मसात करने एवं भारतीय भावना के अनुकूल बनाने की भी आवश्यकता है।" पहले भी भारत ने ऐसा किया है—"एक शाश्वत देह में नयी सामग्री पर अधिकार एवं उसका लाभप्रद स्वीकरण सदा से भारतीय प्रतिभा की अपनी विशिष्ट शक्ति रहे हैं।"

भारत की पराधीनता का स्वरूप बताते हुए श्री अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा है—"अवनति एवं पतन के निकृष्टतम काल में भी भारत की आत्मा मर नहीं गई थी, अपितु वह केवल सुप्त थी, आवृत्त थी, पाशबद्ध थी। अब जब वह अनवरत आघातों के फलस्वरूप सशक्त आत्मोद्धार के लिए उठ रही है तो यह देख रही है कि उसकी निद्रा तो नयी शक्ति की तैयारियों के लिए केवल एक पर्दा थी।"

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता के साथ ही उसकी दुर्बलता तथा उस दुर्बलता को दूर करने का उपचार इत्यादि बताते हुए श्री अरविन्द ने इस कृति में महत्त्वपूर्ण बातें लिखी थीं। श्री अरविन्द ने बार-बार आत्म-निरीक्षण, पाश्चात्य संस्कृति के गुण-दोषों का विचार करने आदि पर बल दिया है। वे पश्चिम के उपयोगी तत्त्वों को भारतीय भावना व आदर्शों के अनुकूल बनाकर ग्रहण करने पर तो बल देते हैं, परन्तु साथ ही अपनी आंतरिक शक्ति से ताज़ी धाराएं प्राप्त करने पर उससे भी

अधिक। "कारण यह कि ये धाराएं ही हमें पाश्चात्य रीतियों नीतियों और प्रेरणाओं की अपेक्षा अधिक सहायता पहुंचाएंगी, क्योंकि ये हमारे लिए अधिक स्वाभाविक होंगी – साथ ही उन्हें अधिक सरलता से ग्रहण कर सकेंगे और व्यवहार में इनका अनुसरण भी पूर्णता के साथ कर सकेंगे।" परन्तु इन सबसे कहीं अधिक उपयोगी है "अपने अतीत और वर्तमान से भविष्य के अपने आदर्श—न कि किसी विजातीय आदर्श—की ओर अग्रसर दृष्टि। क्योंकि, भविष्य की ओर हमारी विकासात्मक गति ही हमारे अतीत व वर्तमान को उनका यथार्थ मूल्य व महत्त्व प्रदान करेगी।" श्री अरविन्द के अनुसार "भारत के स्वरूप को जानने के लिए भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण सामग्री है। भारत का स्वभाव, उसका उद्देश्य, उसका कर्त्तव्य, पृथ्वी की भवितव्यता में उसका भाग तथा वह विशिष्ट शक्ति जिसके लिए वह जीवित है, उसके विगत इतिहास में लिखित है और उसके वर्तमान कष्टों व अग्नि-परीक्षाओं का प्रयोजन है।"

भारतीय संस्कृति की आत्मा की सुरक्षा तो आवश्यक है, परन्तु उसके वाह्य रूपों को आवश्यकतानुसार नया करना होगा और उसे "नये और शक्तिशाली विचार व अर्थ, सांस्कृतिक सुधार, नए माध्यम व महत्तर रूप देने होंगे।" श्री अरविन्द आगे कहते हैं—"जब तक हम इन सारभूत वस्तुओं को मान्यता देते रहेंगे और उनकी भावना के प्रति निष्ठावान रहेंगे, तब तक अत्यन्त उग्र मानसिक या भौतिक रूप-परिवर्तनों और चरम सांस्कृतिक व सामाजिक परिवर्तनों से भी हमें कोई हानि नहीं पहुंचेगी।" किन्तु श्री अरविन्द बार-बार वह चेतावनी देते हैं कि स्वयं इन परिवर्तनों को भी भारत की ही भावना एवं सांचे में ढालना होगा, किसी अन्य भावना या सांचे में नहीं। हमें अमरीका या यूरोप की भावना एवं जापान या रूस के सांचे के अनुसार नहीं बनना है।

किन्तु इसके लिए आत्मालोचन अवश्य करना होगा। "अज्ञानपूर्ण पाश्चात्य आलोचना के विरुद्ध अपनी संस्कृति का समर्थन करने और आधुनिक युग के भीषणतम दबाव से इसकी रक्षा करने का साहस सबसे पहली वस्तु है, परन्तु इसके साथ ही अपनी संस्कृति की भूलों को, किसी यूरोपीय दृष्टिकोण से नहीं अपितु अपने ही दृष्टिकोण से, स्वीकार करने का साहस भी होना चाहिए।"श्री अरविन्द ने बताया है कि भारतीय सभ्यता की भावना व उसके आदर्शों का महत्त्व तो शाश्वत है। अतीत में उनका व्यष्टि-जीवन में प्रयोग तो प्रभावी ढंग से हुआ है, परन्तु समाज-जीवन में उनका साहसपूर्ण प्रयोग करने की आवश्यकता आज भी बनीहुई है। यदि हमें आज विश्व में जीवित रहना है तो इस कार्य को पूर्ण करना पड़ेगा।

यूरोप इत्यादि यह मानकर चलते रहे हैं कि उनकी संस्कृति ही एकमात्र सत्य है परन्तु 'आत्मा का सत्य' प्रत्येक संस्कृति से बड़ी वस्तु है। भारतीय संस्कृति ने सामंजस्य को आधार बनाया और 'विविधता में एकता' के आधार पर एकता का

दर्शन किया। किन्तु उसने अपने लिए जो शांति प्राप्त कर ली थी, वह भी उसकी निष्क्रिय स्थिति के कारण वाह्य आघातों में खो गई। उसकी आक्रमण-शक्ति न रहने के कारण और आत्मसात करने की सामर्थ्य क्षीण हो जाने के कारण, भारतीय संस्कृति अपनी सीमा में ही दुर्बल होती चली गई। इस दोष को दूर करके सामंजस्य की गतिशील अवस्था निर्माण करने की आवश्यकता है। यूरोपीय संस्कृति अपनी श्रेष्ठता के दंभ के कारण विविधता के तत्त्व को स्वीकार नहीं कर पाने के कारण अन्य संस्कृतियों को नष्ट करना चाहती है। इससे भारत को अपनी संस्कृति की रक्षा तो करनी ही होगी। "भारत को यूरोप के इस अभिमानपूर्ण दावे और आक्रमण का प्रतिरोध करना होगा और भारी कठिनाइयों के होते हुए भी तथा सभी के विरुद्ध अपने गंभीरतर सत्य को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना होगा।" इसका कारण यही है कि इस सत्य से ही मानव जाति अंततः प्रकाश व प्रगति की प्रेरणा प्राप्त करेगी।

५. मानव-चक्र

श्री अरविन्द की प्रसिद्ध कृति 'मानव-चक्र' में २४ अध्याय हैं। इस ग्रंथ में श्री अरविन्द ने मानव-इतिहास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए पांच अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है—प्रतीकात्मक, प्रकाराश्रित, परम्परा-प्रधान, व्यक्ति-प्रधान तथा अनुभव-प्रधान। यह प्रतिपादन जर्मन विद्वान् लैम्प्रेख्ट के विचार को परिष्कृत एवं सुसंगत रूप में रखने का सफल प्रयास है।

श्री अरविन्द का 'राष्ट्रात्मा की खोज' नामक निबंध भी महत्त्वपूर्ण है। वे यह प्रस्थापित करते हैं कि राष्ट्र व्यक्ति के समान मूलतः एक आत्मा है। राष्ट्रात्मा की अनुभूति बाद में होती है, पहले वस्तुनिष्ठ राष्ट्र चेतना ही सामने आती है। "यह वस्तुनिष्ठता राष्ट्र के उस सामान्य भावुकतापूर्ण विचार में बड़ी प्रबलता के साथ प्रकट होती है जो उसके भौगोलिक अर्थात् अत्यन्त वाह्य और स्थूल रूप में ही केन्द्रित रहता है अर्थात् जिस देश में हम रहते हैं, जो हमारी पितृभूमि है, हमारी जन्मभूमि है, उसके प्रति उत्कट प्रेम।" किन्तु वस्तुनिष्ठ राष्ट्र-चेतना से उच्चतर है अनुभवनिष्ठ राष्ट्र-चेतना जो इस अनुभूति से उत्पन्न होती है कि "भूमि तो देश का एक बाह्य आवरण मात्र है · इसकी सच्ची देह तो वे पुरुष और स्त्रियां हैं जो राष्ट्र इकाई के निर्माता हैं और यह देह एक निरन्तर परिवर्तनशील परन्तु व्यक्ति की देह के समान सदा वही रहने वाली देह है।"

श्री अरविन्द ने 'सामाजिक विकास का आदर्श विधान' निबंध में व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध-विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया है। प्रत्येक समुदाय चाहे वह धर्म-पंथ हो, श्रेणी हो, संस्था हो, संग हो या मानव समाज ही क्यों न हो, अन्ततः मध्य की एक स्थिति मात्र है। इनमें से प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के लिए

आवश्यक तो है परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि ये उसका अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकते, क्योंकि "वह न तो सामन्त, व्यापारी, योद्धा, पुरोहित, विद्वान, कलाकार, किसान अथवा कारीगर मात्र हैं और न केवल कोई धर्मावलम्बी, दुनियादार अथवा राजनीतिज्ञ ही हैं, न ही वह अपनी राष्ट्रीयता में सीमित हो सकता है।... यदि वह अपने एक भाग में राष्ट्र का है तो अपने दूसरे भाग में वह उससे आगे बढ़कर मानवता से सम्बन्धित हो जाता है। उसमें एक ऐसा भाग भी है जो मानवता तक ही सीमित नहीं है और वह सबसे बड़ा भाग है। उस भाग में वह भगवान से, सब प्राणियों के जगत से तथा भविष्य के देवताओं से सम्बन्धित है।"

श्री अरविन्द यह सिद्धान्त कुशलता से प्रतिपादित करते हैं कि "जैसे राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों अथवा विश्व से अपने अस्तित्व की रक्षा का अधिकार है, वैसे ही राष्ट्र के लिए भी यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति के अस्तित्व का सम्मान करे, उसे स्वाभाविक विकास का पूर्ण अवसर दे और उसके व्यक्तित्व को न तो नष्ट करे, न उस पर आघात करे।

श्री अरविन्द अपने आदर्श विधान को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"इस प्रकार व्यक्तित्व का अपने अन्दर से उन्मुक्त विकास सिद्ध करना ही व्यक्ति का विधान है परन्तु साथ ही दूसरों के उसी प्रकार के उन्मुक्त विकास का सम्मान करना, उसमें सहायता देना और उनसे सहायता प्राप्त करना भी इसी विधान में सम्मिलित है। अपने जीवन को समाज के जीवन के साथ सुसमन्वित कर देना और वृद्धि एवं पूर्णता के लिए एक विकास-शक्ति के रूप में स्वयं को उँडेल देना भी उसका विधान है।" तत्पश्चात् राष्ट्र व समुदायों का विधान बताते हुए वे कहते हैं—"इसके समान ही राष्ट्र एवं समुदाय का भी यह विधान है कि वह व्यक्ति के विकास में सहायता करते हुए तथा व्यक्ति से पूर्ण लाभ उठाते हुए, परन्तु साथ ही दूसरे राष्ट्रों एवं समुदायों के उन्मुक्त विकास का सम्मान करते हुए, उनकी सहायता करते हुए और उनसे सहायता प्राप्त करते हुए अपने अन्दर के उन्मुक्त विकास के द्वारा अपने सामूहिक जीवन में पूर्णता लाए। साथ ही, मानव-समाज के जीवन के साथ अपने जीवन को सुसमन्वित कर देना और वृद्धि एवं पूर्णता की साधक शक्ति के रूप में स्वयं को मानवता पर उँडेल देना भी उसके विधान का एक भाग है।"

आगे वे मानव-जाति का आदर्श विधान बताते हुए कहते हैं —"मानव-जाति का विधान यह है कि वह स्वयं में भगवान की सिद्धि एवं अभिव्यक्ति के लिए समस्त व्यक्तियों, राष्ट्रों एवं समुदायों के उन्मुक्त विकास की ऊर्ध्वगति का अनुसरण करे और उस दिन के लिए कार्य करती जाए, जब वह केवल आदर्श में ही नहीं, वास्तविक रूप में भी एक भागवत परिवार बन सकेगी।" किन्तु श्री अरविन्द यह बात और जोड़ते हैं—"परन्तु अपना एकीकरण कर लेने के पश्चात् भी उसे

अपने व्यक्तियों और अपने अन्तर्गत समुदायों के उन्मुक्त विकास एवं कर्म का सम्मान करना होगा, उनकी सहायता करनी होगी, उनसे सहायता प्राप्त करनी होगी।"

निस्सन्देह यह सामाजिक विकास का आदर्श विधान है। और वह स्वर्ण दिन कहा जाएगा जब विश्व इसे कार्यान्वित करेगा।

१२. महायोगी और कुछ राजनीतिक घटनाएं

श्री अरविन्द अपनी साधना में तो व्यस्त थे ही, विश्व की राजनीतिक गति-विधियों की दृष्टि से भी वे सक्रिय थे। हां, यह सक्रियता अवश्य ही ऊपर से दिखाई देने वाली या तो थी ही नहीं, या बहुत कम थी। वे अपने आध्यात्मिक बल का प्रयोग करके देश व विश्व की घटनाओं को इच्छित दिशा में मोड़ने का प्रयास करते रहे। कहीं उन्हें विफलता मिली, कहीं सफलता।

द्वितीय विश्वयुद्ध में श्री अरविन्द के दृष्टिकोण और कार्य की चर्चा करने से पूर्व यह बता देना आवश्यकहै किसिद्धिदिवस के उपरान्त श्री अरविन्द पूर्ण एकांत-वास को स्वीकार कर अतिमानसिक अवतरण के लिए पूरी तरह जुट गए थे। उन्होंने आश्रम का दायित्व पूर्णतया माताजी पर छोड़ दिया था, यह तो नहीं कहा जा सकता, किंतु फिर भी बहुत कुछ ऐसी ही बात थी। श्री अरविन्द के जीवनी-लेखक तथा साधक श्री छोटे नारायण शर्मा की इस सम्बन्ध में लिखित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—"१९२६ से लेकर १९४० तक योग व्यक्तिगत रूप से शरीर और अवचेतन पर कार्य कर रहा था। श्री अरविन्द ने अपने साधकों के नाम पत्र में कहा है कि १९३४ नवम्बर के पहले अतिमानसी शक्ति उतर रही थी। लेकिन सारा कीचड़ ऊपर आ गया तब यह अवतरण बन्द हो गया। फिर अवचेतन में और शरीर में यह व्यक्तिगत कार्य १९४० तक चलता रहा। अत्यन्त ही सघन रूप से, अत्यन्त ही एकाग्र रूप से यह कार्य चल रहा था। सावधानी से चुने हुए कुछ थोड़े से ही साधक उस समय साथ थे। फिर अतिमानसी ज्योति जड़तत्त्व में निर्वतित उस ज्योति का स्पर्श करने को ही थी कि इस बार सामूहिक अवचेतन ने कीच वमन किया।···इसी समय दूसरा महायुद्ध भी शुरू हो गया।"

श्री अरविन्द ने इस विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों का खुलकर पक्ष लिया और हिट-लर तथा उसकी मित्रशक्ति को 'आसुरी बल' कहा। श्री अरविन्द के अनुसार उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से विश्वयुद्ध को एक निश्चित परिणाम पर पहुंचाने में सफलता प्राप्त की, जबकि कोई इसे जान भी नहीं पाएगा।

किंतु इस युद्ध के मध्य ऐसी भी एक प्रमुख राजनीतिक घटना घटित हुई जिसमें महायोगी श्री अरविन्द ने जो कुछ किया, वह इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य बन गया। हुआ यह कि जब १५ फरवरी १९४२ को सिंगापुर का पतन हो चुका था और ७ मार्च को रंगून पर भी जापानी सेना ने अधिकार कर लिया था तथा ब्रिटिश सेनाएं दक्षिणपूर्वी एशिया मेंपीछे हट रही थीं और जापानी सेनाएं भारत के सीमान्त पर थीं, और इस कारण जब ब्रिटेन की पराजय सुनिश्चित समझी जाने लगी थी तब क्रिप्स मिशन २२ मार्च १९४२ को भारत आया। क्रिप्स प्रस्तावों में युद्ध के पश्चात् भारतवर्ष को पूर्ण स्वाधीनता का आश्वासन दिया गया था और युद्धकाल में केन्द्रीय सरकार में भाग देने की बात भी कही गयी थी। उसकी पृष्ठ-भूमि यह थी कि जब कांग्रेस ने १९३९ में अपने मंत्रिमंडलों का त्यागपत्र देकर ब्रिटिश सरकार के युद्ध-प्रयत्नों से असहयोग की घोषणा कर दी थी तब चीनी राष्ट्रपति जनरल च्यांगकाई शेक और अमरीकी राष्ट्रपति श्री रूज़वेल्ट के क्रमशः आग्रह तथा दबाव पर प्रधानमन्त्री चर्चिल ने भारतीय जनता का युद्ध में पूर्ण सह-योग प्राप्त करने के लिए एक ठोस कदम के रूप में क्रिप्स मिशन की योजना की थी और उस मिशन को सफल बनाने के लिए श्री रूज़वेल्ट ने अपने एक विशेषप्रतिनिधि श्री लुई ए० जानसन को भी उस समय दिल्ली में नियुक्त किया था।

उस समय श्री अरविन्द ने क्रिप्स वार्ता की सफलता-असफलता को भारतवर्ष के भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण क्षण के रूप में देखा था। उन्होंने अपने स्वभाव के प्रतिकूल श्री क्रिप्स को सीधे, पत्र द्वारा अपना समर्थन सूचित किया था। उन्होंने लिखा था—"यद्यपि अब मेरी गतिविधि राजनीतिक क्षेत्र में न होकर आध्यात्मिक क्षेत्र तक सीमित है तथापि मैं भारत की स्वाधीनता का एक कार्यकर्ता एवं राष्ट्र-वादी नेता रह चुका हूं, अतः इस प्रस्ताव को लाने के लिए आपके प्रयत्नों की सरा-हना करने की इच्छा मुझमें जगी है। मैं इसका स्वागत करता हूं क्योंकि इसमें मैं भारत को अपनी स्वाधीनता और एकता के हित में अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करने एवं स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं को संगठित करने तथा उसे विश्व के स्वाधीन राष्ट्रों के बीच प्रभावशाली स्थान बनाने के लिए एक ईश्वर-प्रदत्त अवसर देखता हूं। मैं आशा करता हूं कि समस्त मतभेदों एवं कटुताओं को अलग रखकर इसे स्वीकार कर लिया जाएगा और इसका समुचित लाभ उठाया जाएगा। मैं यह भी आशा करता हूं कि भारत और ब्रिटेन के बीच पुराने संघर्ष के स्थान पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का प्रारम्भ उस महान विश्व-एकता की दिशा में एक पग होगा जिसमें स्वाधीन भारत की आध्यात्मिक शक्ति मानवता के लिए एक श्रेष्ठ एवं सुखी जीवन का निर्माण करने में समर्थ हो सकेगी। इस परिप्रेक्ष्य में आपके प्रस्तावों को अपना खुला समर्थन प्रदान कर रहा हूं, यदि वह आपके मिशन की सफलता में कुछ भी सहायता कर सके।"

श्री क्रिप्स ने श्री अरविन्द के अनपेक्षित समर्थन के प्रति अत्यधिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्हें उत्तर भी दिया था। श्री अरविन्द पांडीचेरी में बैठे हुए भी इस राजनीतिक क्षण के महत्त्व को समझ गए थे किन्तु महात्मा गांधी और उनके सहयोगी ब्रिटेन की पराजय और जापान की विजय को संभावित मानकर भारत की स्वाधीनता को हस्तगत समझकर क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों को ठुकरा बैठे। गांधी जी ने उसे "एक दिवालिया हो रहे बैंक का बाद की तिथि का चैक" (इट इज़ ए पोस्टडेटिड चैक आन ए क्रैशिंग बैंक) कहा था।

वार्ता की विफलता को देखते हुए श्री अरविन्द ने सुप्रसिद्ध एवं वृद्ध पत्रकार श्री बी० शिवराव द्वारा अपना यह संदेश महात्मा गांधी व श्री जवाहरलाल नेहरू तक पहुंचवाया कि वे क्रिप्स प्रस्ताव को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लें क्योंकि वही भारतवर्ष के हित में होगा। यही नहीं, उन्होंने अपने शिष्य एडवोकेट श्री एस० दोराई स्वामी अय्यर को भी दिल्ली भेजा था। कांग्रेसी नेताओं ने उनके सन्देश को सुना भी, आश्चर्य भी किया कि श्री अरविन्द को ऐसी रुचि क्या जगी, किन्तु श्री अरविन्द की बात पर न तो दूरदर्शिता के साथ विचार किया, न कूटनीतिक योग्यता का कोई परिचय ही दिया। परिणाम हुआ क्रिप्स मिशन की असफलता, कांग्रेस का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में दमन, जिन्ना द्वारा मुस्लिम संगठन को और अधिक सशक्त बनाने की खुली छूट और अन्त में भारत-विभाजन। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने सन् १९५० में ठीक ही लिखा था—"वे भविष्य को देख सकते थे। भारत की राजनैतिक स्थिति का उनका आकलन सदैव सही निकला। जब १९३९ में विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ और सम्पूर्ण देश युद्ध से तटस्थ रहना चाहता था तब उन्होंने अपनी अचूक दृष्टि से भविष्य के अन्दर देखकर बताया था कि इंग्लैंड और फ्रांस की विजय आसुरी शक्तियों पर दैवी शक्तियों की विजय होगी। इस बात पर हमें बहुत क्रोध आया था, किन्तु उनकी बात ही सत्य थी। यदि मित्र राष्ट्र न जीते होते तो मानवता को फ़ासीवाद (फ़ासिज्म) के सघन अन्धकार ने निगल लिया होता।" श्री मुंशी ने यह भी लिखा था—"जब स्टेफर्ड क्रिप्स अपने प्रस्तावों के साथ भारत आए थे तो वे पुनः बोले थे कि भारतवर्ष को इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लेना चाहिए किन्तु हमने उनके परामर्श को ठुकरा दिया। तब हमें लगता था कि उसे ठुकराने के पक्ष में हमारे पास ठोस तर्क हैं। किन्तु आज विचार करने पर लगता है कि यदि हमने क्रिप्स के पहले प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया होता तो न भारत का विभाजन होता, न शरणार्थी होते और न कश्मीर-समस्या।"

१५ अगस्त १९४७ पर श्री अरविन्द का सन्देश

१५ अगस्त १९४७ को भारतवर्ष को स्वतन्त्रता भी मिली और विभाजन

भी हुआ। अखण्ड भारत के स्थान पर उस दिन खंड-खंड भारत को देखकर किस राष्ट्रभक्त का हृदय चीत्कार नहीं कर उठा था ! किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति का अपना महत्त्व भी था। श्री अरविन्द के लिए तो यह उनका अपना जन्मदिन भी था। अतः इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर उन्होंने जो सन्देश दिया था, वह राष्ट्र-भर में प्रसारित किया गया था और आज २५ वर्ष बीतने पर तो उसे देखने पर श्री अरविन्द की काल-भेदिनी दृष्टि पर आश्चर्य ही किया जा सकता है। विभाजित भारत में श्री अरविन्द आश्रम में अखंड भारत का चित्र कुछ अर्थ रखता है। माताजी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किए जाने पर उन्होंने कहा था कि राजनीति की धूल साफ हो जाने पर अन्त में यही अखंड भारत पुनः उभर कर ऊपर आएगा। श्री अरविन्द का इस अवसर पर दिया गया सन्देश यहां द्रष्टव्य है —

१५ अगस्त, १९४७ का श्री अरविन्द-सन्देश

१५ अगस्त स्वाधीन भारत का जन्मदिन है। यह दिन भारतवर्ष के लिए एक प्राचीन युग का अन्त और एक नवीन युग का प्रारम्भ सूचित करता है। परन्तु यह दिन केवल हमारे लिए ही नहीं वरन एशिया के लिए और समस्त संसार के लिए भी एक अर्थ रखता है; और वह अर्थ यह है कि इस दिन संसार के राष्ट्र-समाज के अन्दर एक नयी राष्ट्र-शक्ति प्रवेश कर रही है जिसमें अगणित संभावनाएं निहित हैं और जिसे मनुष्य-जाति के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भविष्य की रचना करने में एक महान कार्य करना है। व्यक्तिगत रूप से तो मुझे इस बात से स्वभावतः ही प्रसन्नता होगी कि जो दिन, मेरा अपना जन्मदिन होने के कारण, केवल मेरे लिए ही स्मरणीय था और जिसे वे ही लोग प्रतिवर्ष मनाया करते थे जिन्होंने जीवन-सम्बन्धी मेरी शिक्षा को स्वीकार किया है, उसी दिन को आज इतना विशाल अर्थ प्राप्त हुआ है। एक अध्यात्मवादी के नाते मैं इन दोनों दिनों के एक हो जाने को केवल एक संयोग या आकस्मिक घटना नहीं मानता, बल्कि मैं यह मानता हूं कि इसके द्वारा भागवत शक्ति ने-- जो मेरा पथ-प्रदर्शन करती है—उस कार्य के लिए अपनी स्वीकृति दे दी है तथा उस पर अपने आशीर्वाद की मुहर-छाप लगा दी है जिसको लेकर मैंने अपना जीवन आरम्भ किया था। वास्तव में संसार के वे प्रायः सभी आन्दोलन, जिन्हें मैंने अपने जीवन-काल में ही सफल होते हुए देखने की आशा की थी और जो उस समय असंभव स्वप्न से ही प्रतीत होते थे, आज दिन मैं देख रहा हूं कि, या तो अपनी सफलता के समीप पहुंच रहे हैं या उनका कार्य आरम्भ हो गया है और वे अपनी सफलता के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं।

आज के इस महान अवसर पर मुझसे एक सन्देश मांगा गया है। परन्तु अभी सम्भवतः मैं कोई सन्देश देने की स्थिति में नहीं हूं। अधिक से अधिक आज मैं उन

उद्देश्यों और आदर्शों की व्यक्तिगत रूप से घोषणा भर कर सकता हूं जिन्हें मैंने अपने बाल्य और युवाकाल में अपनाया था और जिन्हें अब मैं सफलता की ओर जाते हुए देख रहा हूं; क्योंकि भारत की स्वाधीनता के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है—वे उस कार्य का ही एक अंग हैं जिसे मैं भारत का भावी कार्य मानता हूं और जिसमें भारत नेता का स्थान ग्रहण किए बिना नहीं रह सकता। मैं निरन्तर यह मानता और कहता आ रहा हूं कि भारत उठ रहा है और वह केवल अपने ही भौतिक स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए नहीं, अपनी ही प्रसारता, महत्ता, सामर्थ्य और सम्पदा-अर्जन करने के लिए नहीं—यद्यपि इन सब की भी उसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, और निश्चय ही अन्य राष्ट्रों की तरह दूसरी-दूसरी जातियों पर अधिकार स्थापित करने के लिए नहीं, बल्कि साथ ही भगवान के लिए, जगत के लिए, समस्त मानव-जाति के सहायक और नेता के रूप में जीवन-यापन करने के लिए उठ रहा है। वे उद्देश्य और आदर्श अपने स्वाभाविक क्रम में इस प्रकार हैं—(१) एक क्रांति, जिसके द्वारा भारत को स्वतंत्रता और एकता प्राप्त हो; (२) एशिया का पुनः जागरित होना और स्वाधीन होना तथा मानव-सभ्यता की क्रमोन्नति के लिए उसने एक समय जैसे महान कार्य किया था, वैसे ही फिर से उसका कार्य करने लगना; (३) मनुष्य-जाति के लिए एक नवीनतर, महत्तर, उज्ज्वलतर और उन्नततर जीवनधारा का विकास, जो अपनी सम्पूर्ण सिद्धि के लिए बाह्यतः सभी जातियों की पृथक्-पृथक् सत्ता के एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण पर निर्भर करेगा जो एकीकरण विभिन्न जातियों के राष्ट्रीय जीवन को तो सुरक्षित और अक्षुण्ण रखेगा पर उन्हें एक सर्वोपरि और अन्तिम एकता के अन्दर एक साथ बांध रखेगा; (४) भारत का समस्त मनुष्य-जाति को अपना आध्यात्मिक ज्ञान और जीवन को आध्यात्मिक बनाने की साधना प्रदान करना; और अंत में (५) क्रम-विकास के अन्दर एक पग और आगे बढ़ जाना, जिसके फलस्वरूप चेतना एक उच्चतर स्तर में ऊपर उठ जाएगी और जीवन की उन अगणित समस्याओं का समाधान होना आरम्भ हो जाएगा जो मनुष्य को तब से व्यथित और विभ्रांत कर रही हैं जब से उसने व्यक्तिगत पूर्णता तथा सर्वांगसुन्दर समाज के विषय में चिन्तन करना और स्वप्न देखना आरम्भ किया था।

भारत स्वतन्त्र हो गया है पर उसने एकता नहीं प्राप्त की है, केवल टूटी-फूटी, छिन्न-भिन्न स्वतन्त्रता ही उसने प्राप्त की है। एक समय तो प्रायः ऐसा ही मालूम होता था कि वह फिर से अलग-अलग राज्यों की उस अस्तव्यस्त अवस्था में ही जा गिरेगा जो अवस्था अंग्रेजों की विजय के समय थी। परन्तु सौभाग्यवश अब एक ऐसी प्रबल संभावना उत्पन्न हो गयी है जो उसे उस विपज्जनक अवस्था में गिर जाने से बचा लेगी। संविधान-परिषद की कौशलपूर्ण प्रबल नीति ने यह संभव बना दिया है कि पददलित जातियों का प्रश्न बिना किसी विरोध या मतभेद के हल हो

जाएगा। परन्तु हिन्दू और मुसलमानों का पुराना साम्प्रदायिक विभेद मानो इतना घना हो गया है कि उसने देश के एक स्थायी राजनीतिक विभाजन का ही रूप धारण कर लिया है। हम आशा करते हैं कि कांग्रेस और हमारे देशवासी इस निर्णय को स्थायी निर्णय नहीं मानेंगे अथवा एक सामयिक व्यवस्था से अधिक और कुछ नहीं समझेंगे। क्योंकि, अगर यह विभाजन बराबर बना रहा तो भारत बुरी तरह दुर्बल हो सकता है और यहां तक कि पंगु भी हो सकता है; फिर गृह-कलह की सम्भावना बराबर ही बनी रह सकती है और यह भी संभव हो सकता है कि इस पर बाहर से आक्रमण हो और यहां फिर से विदेशी राज्य स्थापित हो जाए। अतएव देश का विभाजन अवश्य दूर होना चाहिए—आशा है कि वह या तो विरोध की तीव्रता के धीरे-धीरे कम होने से दूर होगा या शांति तथा मेल-मिलाप की आवश्यकता को क्रमशः हृदयंगम करने से होगा अथवा एक कार्य को एक साथ मिल कर करने की सतत आवश्यकता को, यहां तक कि उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए एकत्वसाधक एक यन्त्र की आवश्यकता को अनुभव करने से होगा। इस तरह एकता स्थापित हो सकती है, भले ही उसका रूप चाहे जो हो—उसके वास्तविक स्वरूप का कोई व्यावहारिक मूल्य भले ही हो, तत्त्वतः उसका कोई मूल्य नहीं। परन्तु चाहे जिस किसी उपाय से क्यों न हो, विभाजन अवश्य दूर होना चाहिए और दूर होकर ही रहेगा। क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो भारत का भविष्य बुरी तरह क्षय हो सकता है और व्यर्थ तक हो सकता है। परन्तु वैसा कभी नहीं होने देना चाहिए।

एशिया जग गया है और उसके अधिकांश भाग स्वतन्त्र हो गए हैं अथवा इस समय स्वतन्त्र हो रहे हैं; उसके अन्य भाग, जो अभी परतन्त्र हैं, चाहे जितने भी संघर्ष में से क्यों न हो, वे भी स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। बस, थोड़ा-सा ही कार्य शेष है और वह आज या कल पूरा हो जाएगा। इस क्षेत्र में भी भारत को कुछ कार्य करना है और उस कार्य को उसने एक ऐसी शक्ति और योग्यता के साथ करना आरम्भ कर दिया है कि वह इस बात तो सूचित कर रही है कि उसके अन्दर क्या-क्या संभावनाएं निहित हैं तथा विश्व की राष्ट्र-परिषद में वह कौन-सा स्थान ग्रहण करेगा।

मनुष्य-जाति का एकीकरण आरम्भ हो गया है, यद्यपि उसका प्रारम्भ दोषपूर्ण है, एक बाह्य व्यवस्था स्थापित हुई है परन्तु महान कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ रहा है। परन्तु वेग उसमें है, और, यदि इतिहास के अनुभव को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया जाय तो वह अनिवार्य रूप से तब तक बढ़ता जाएगा जब तक वह अपना काम पूरा नहीं कर लेता। इस विषय में भी भारत ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य करना आरम्भ कर दिया है और, यदि वह उस विशालतर राजनीतिज्ञता को विकसित करे जो आधुनिक घटनाओं तथा निकटतर संभावनाओं से

ही सीमित नहीं होती बल्कि भविष्य को भी देखती तथा उसे निकटतर ले आती है तो, उसकी उपस्थिति इस बात को स्पष्ट दिखा सकती है कि एक मंथर और सशंक गति तथा एक क्षिप्र और निर्भीक गति में क्या अन्तर होता है। संभव है कि इस क्षेत्र में कोई उपद्रव हठात् उठ खड़ा हो और जो कुछ किया जा रहा है उसे रोक दे या नष्ट कर दे, परन्तु फिर भी इसका अन्तिम फल सुनिश्चित है। क्योंकि, चाहे जो हो, एकीकरण, प्रकृति की धारा के अन्दर एक आवश्यक चीज है, एक अनिवार्य गति है और इसकी संसिद्धि के विषय में निस्सन्देह भविष्यवाणी की जा सकती है। इसकी आवश्यकता सभी राष्ट्रों को है—यह भी स्पष्ट है, क्योंकि इसके बिना छोटी-छोटी जातियों की स्वतन्त्रता अब कभी निरापद नहीं रह सकती और बड़े-बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्र तक भी वास्तव में कभी सुरक्षित नहीं रह सकते। अगर भारत विभक्त बना रहा तो वह स्वयं अपनी रक्षा के विषय में भी निस्सन्देह नहीं हो सकता। अतएव इसी बात में सबकी भलाई है कि एकता स्थापित हो। एकमात्र मनुष्य की घोर असमर्थता तथा मूढ़ स्वार्थपरता ही इसे रोक सकती है। मनुष्य के इन दुर्गुणों के सामने, कहते हैं कि, देवताओं का प्रयास भी व्यर्थ हो जाता है; परन्तु प्रकृति की आवश्यकता तथा भागवत संकल्प के विरुद्ध ये चीजें भी बराबर नहीं टिक सकतीं। इस तरह राष्ट्रीयता अपनी पूर्णता को प्राप्त करेगी; एक अन्तर्राष्ट्रीय भाव और दृष्टि उत्पन्न होगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएं और संस्थाएं गठित होंगी। यहां तक कि ऐसे परिवर्तन भी उपस्थित हो सकते हैं जिनके कारण एक आदमी एक साथ ही दो देशों या कई देशों की नागरिकता को प्राप्त करे और परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्दर विभिन्न देशों की संस्कृतियां स्वेच्छापूर्वक एक दूसरी के साथ घुल-मिलकर एक हो जाएं और राष्ट्रीयता का भाव अपनी युद्धप्रियता को त्याग कर यह अनुभव करने लगे कि वह अपनी निजी दृष्टि को अक्षुण्ण रखते हुए भी इन सब चीज़ों को पूर्ण मात्रा में ग्रहण कर सकता है। एकता का एक नवीन भाव समस्त मनुष्य-जाति को अभिभूत कर डालेगा।

भारत ने सारे संसार को अपना आध्यात्मिक दान देना आरम्भ कर दिया है। भारत की आध्यात्मिकता यूरोप और अमेरिका में अधिकाधिक मात्रा में प्रवेश कर रही है। इसकी गति दिन-दिन बढ़ती ही जाएगी। इस युग की दुर्घटनाओं के बीच लोगों की आंखें आशा के साथ अधिकाधिक उसकी ओर मुड़ रही हैं और लोग केवल उसके शास्त्रों का ही नहीं वरन उसकी आंतरिक और आध्यात्मिक साधना का भी अधिकाधिक आश्रय ग्रहण कर रहे हैं।

अब जो शेष है वह अभी तक एक व्यक्तिगत आशा, भावना और आदर्श की ही बात है। पर इसको भी भारत में तथा पाश्चात्य देशों में उन लोगों ने धीरे-धीरे ग्रहण करना आरम्भ कर दिया है जिनकी बुद्धि भविष्य को देखने में समर्थ है। अवश्य ही मानव-प्रयास के अन्यान्य क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में कहीं अधिक

कठिनाइयां मौजूद हैं, परन्तु कठिनाइयां पार करने के लिए ही बनी हैं और यदि इसके लिए परम प्रभु ने संकल्प किया है तो वे पार की ही जाएंगी। यहां भी, अगर यह क्रम-विकास साधित होने को है तो, और, चूंकि यह आत्मा में तथा आंतर चेतना में क्रमशः वर्द्धित होने से ही साधित हो सकता है इसलिए, इसका भी सूत्रपात भारत में ही हो सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र सारा विश्व होगा फिर भी इसका केन्द्र भारत ही हो सकता है।

आज भारत के इस स्वाधीनता-दिवस के साथ मैं इन्हीं भावनाओं को युक्त कर रहा हूं। पर ये सब भावनाएं सिद्ध होंगी या नहीं या कहां तक अथवा कितना शीघ्र सिद्ध होंगी—यह सब इस नवीन और स्वतन्त्र भारत पर निर्भर करता है।

१३. महासमाधि

वर्ष १९५०!

× × ×

जब से श्री अरविन्द एकान्तवासी बने थे (केवल चार दर्शन-दिवसों को छोड़कर) जिससे अतिमानसिक अवतरण का प्रयोग पूर्ण हो सके तब से १९५० तक उनका फोटो भी नहीं लिया गया था किंतु अप्रैल १९५० में श्री एच० कार्ति ब्रेसों को उनकी फोटो लेने की अनुमति मिल गई तो शिष्यों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

× × ×

गुजरात के एक ज्योतिषी ने दो भविष्यवाणियां की थीं। संभावना है कि १९५० में श्री अरविन्द देह-त्याग कर दें (क्योंकि सूर्य व चन्द्रमा एक घर में आ गए हैं और चन्द्रमा द्वादश भाव का स्वामी है) किन्तु यदि वे बचेंगे तो १९६४ में अद्भुत चमत्कारपूर्ण कार्य करेंगे और उसके पश्चात् शीघ्र ही इच्छानुसार देह-त्याग करेंगे। श्री अरविन्द ने १९६४ की बात जानी तो कहा—"ओह, तिरावने वर्ष!" उनसे कुछ शिष्यों ने पूछा कि इस वर्ष (१९५० चल रहा था) की बात तो ठीक नहीं है? श्री अरविन्द केवल इतना बोले—"क्यों?"

× × ×

श्री नीरदवर्ण को श्री अरविन्द के समीप रहकर लिखने का कार्य मिला हुआ था। श्री अरविन्द लिखाते, श्री नीरदवर्ण लिखते। 'सावित्री' महाकाव्य अभी पूर्ण नहीं हुआ था। अचानक एक दिन श्री अरविन्द बोल उठे—" 'सावित्री' को शीघ्र पूर्ण कर देना चाहिए।" पूरे पचास वर्ष बिताने पर भी जिसके विषय में श्री अरविन्द अत्यन्त धैर्य के साथ आवृत्ति पर आवृत्ति करने में, साजने-संवारने, निर्दोष बनाने में प्रयत्नशील थे, उसके विषय में 'जल्दी'! श्री नीरदवर्ण चकित हो गए!

× × ×

कुछ समय से श्री अरविन्द को गुर्दे का रोग होने के लक्षण प्रकट होने लगे थे। १७ नवम्बर १९५० को कष्ट उभर कर सामने आ गया था। किन्तु २४ नवम्बर को दर्शन-दिवस का कार्यक्रम ठीक व्यतीत हो गया। रोग बढ़ता गया। शिष्यों को

लगा कि श्री अरविन्द पहले के समान अपनी योगशक्ति को रोग दूर करने में प्रयुक्त नहीं कर रहे हैं। श्री अरविन्द से पूछने पर उन्होंने स्वीकार भी कर लिया। श्री नीरदवर्ण चिकित्सक भी हैं, मुंह लगे शिष्य भी थे, पूछा—"तब रोग कैसे ठीक होगा?"

श्री अरविन्द का शांतिपूर्वक दिया गया किंतु रहस्यपूर्ण उत्तर था—"समझा नहीं सकता, तुम समझोगे नहीं।" फिर भी बात समझ में आने लगी थी। क्या सूर्य अस्ताचल को जा रहा था? क्या श्री अरविन्द अपनी मृत्यु को आने की अनुमति दे रहे थे? क्या योगी इच्छामृत्यु का आवाहन कर रहा था?

× × ×

कलकत्ते से आमंत्रित प्रसिद्ध सर्जन श्री अरविन्द के प्रति श्रद्धालु डा० सान्याल ३० नवम्बर, १६५० श्री अरविन्द को देखने गए। शिष्य श्री चम्पक लाल ने आवाज़ दी—देखिए, सान्याल आए हैं। श्री अरविन्द की शान्त दृष्टि उठी और डा० सान्याल के मुखमंडल पर टिक गई। डा० सान्याल के शब्दों में—"उन्होंने आंखें पूरी खोल दीं, मुझे देखा और मुस्कराए। ओह, कैसी मुस्कान, कितनी सुन्दर और पुनीत, सहज ही में आनंदित कर देने वाली, हृदय को अंतिम तह तक प्रकाशित कर देने वाली। अपना हाथ उन्होंने मेरे माथे पर रख दिया, प्यार से इसे थपथपाया ...मैंने उनसे पूछा—क्या पीड़ा है? वे बोले—पीड़ा, मुझे पीड़ा नहीं होती। और कष्ट? व्यक्ति इससे ऊपर उठ सकता है।..."

× × ×

अन्दर की निरन्तर सफाई करते रहने और एण्टीबायोटिक्स के निरंतर प्रयोग से श्री अरविन्द को ठीक किया जा सकता है, इस आधार पर उनकी चिकित्सा चलती रही। परिणामस्वरूप श्री अरविन्द का शरीर कुछ अच्छा दिखाई पड़ने लगा। डा० सान्याल ने उनके सिर की मालिश की तो श्री अरविन्द ने प्रशंसात्मक रूप में कहा—"तुम चिकित्सा-विज्ञान के 'फेलो' के रूप में इंग्लैण्ड गए थे न? परंतु तुमने यह मालिश कहां सीखी?" रक्त की परीक्षा के लिए कहने पर श्री अरविन्द ने अस्वीकार कर दिया—"तुम डाक्टर लोग रोग और औषधि के अतिरिक्त कुछ विचार भी नहीं सकते। परन्तु ऊपर से दिखाई देने वाली बातों के अतिरिक्त इनसे भिन्न और उनसे ऊपर भी कुछ होता है। मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।" महायोगी का उत्तर उन्हीं के अनुरूप था।

× × ×

अचेतावस्था से जगकर एक बार श्री अरविन्द ने डा० सान्याल से पूछा था—बंगाल के शरणार्थियों के विषय में, बंगाल के विषय में। वहां की करुण कथा सुनने पर उन्होंने डा० सान्याल के अंतिम वाक्य "अवश्य ही भगवान उनकी सहायता करेगा" को सुनकर कहा था—"अवश्य ही, परन्तु तभी जब बंगाल ईश्वर को

चाहे।" और वे पुनः अचेत हो गए थे।

× × ×

श्री अरविन्द की मूर्च्छा का कारण मूत्र-विष था क्योंकि गुर्दे बेकार हो गए थे। किन्तु डाक्टर चकित थे कि ऐसी मूर्च्छा का रोगी तो पूर्णतया अचेत ही रहता है किन्तु श्री अरविन्द तो इच्छानुसार जागते दिखाई पड़ते। वे पानी मांगते तो नहीं, परन्तु दिए जाने पर कुछ मुस्कराते हुए पी लेते। शरीर मृत्यु से संघर्ष कर रहा था, महायोगी के प्रति अपना अंतिम कर्तव्य-पालन कर रहा था।

× × ×

४ दिसम्बर को वे डाक्टरों का सहारा लेकर अपनी आरामकुर्सी तक चलकर भी आए, उसपर बैठे भी। श्री अरविन्द ठीक हो गए हैं, ऐसा लगने से सभी शिष्यों को प्रसन्नता हुई। किन्तु यह मृत्यु की छलना थी। बुझने से पहले स्नेहशून्य हो रहे दीपक के प्रकाश का क्षण-भर को बढ़ जाना था।

× × ×

४ दिसम्बर की रात्रि। श्री अरविन्द का अचेत शरीर कष्ट भोग रहा था, सांस लेने में भी कष्ट हो रहा था। माताजी ११ बजे टमाटर का रस देने आईं। चमत्कार हुआ। शरीर ऐसा जाग गया मानो सोकर उठा हो, रस पीकर श्री अरविन्द पुनः मूर्च्छित हो गए, फिर पीड़ा होने लगी। माताजी ने पहले ही डा० सान्याल इत्यादि को बता दिया था कि श्री अरविन्द स्वयं से ध्यान हटा रहे हैं, वापस लौट रहे हैं।

× × ×

४ दिसम्बर और ५ दिसम्बर के मध्य की वह दारुण रात्रि! एक बजे माताजी ने आकर श्री अरविन्द को देखा। फिर वे डाक्टर को संकेत करके स्वयं 'एकान्त' में चली गईं। 'एकान्त' में जाने का अर्थ उनके शिष्य भली-भांति जानते हैं। तब उनकी चेतना शरीर से बाहर निकलती है। थोड़ी देर में ही अरविन्द का शरीर कुछ कांपा, उनकी दोनों भुजाएं वक्षस्थल पर थीं, ऊपर-नीचे रखी हुई, श्वास-प्रवाह रुक गया, प्राणों ने शरीर को याग दिया था, पक्षी उड़ गया था, महायोगी चला गया था, शरीर मात्र पड़ा था! तब घड़ी में १ बजकर २० मिनट थे। ५ दिसम्बर की वह वेला—कितनी कठोर! कितनी दारुण! कितनी विचित्र!

× × ×

ठीक १-२० पर माताजी ने श्री अरविन्द के कमरे में प्रवेश किया था। उस समय उनकी आकृति कुछ परिवर्तित लगती थी। कंधे पर बिखरे हुए केश, भयानक-सी लगने वाली दृष्टि। वे वहां खड़ी निर्निमेष भाव से श्री अरविन्द के शरीर की ओर देख रही थीं। रोने वालों को उनकी दृष्टि मात्र ने जड़ीभूत कर दिया था। दो महान् योगियों के वियोग का वह क्षण!

श्री माताजी का आदेश हुआ 'सेवा-वृक्ष' (सर्विस ट्री) के नीचे समाधि दी जाएगी। स्थान पूर्व-निश्चित था। आश्चर्य !

× × ×

आश्रमवासियों पर तो वज्रपात ही हुआ।

जिसने सुना, वही स्तब्ध रह गया, दौड़ा आया, रो पड़ा, रोता रहा !

श्री अरविन्द की दिव्य ज्योति चली गई, यह कल्पना ही जिनके हृदय को हिला देने वाली थी, उनके सामने वह प्रत्यक्ष निर्जीव देह पड़ी हुई थी।

× × ×

किंतु वह देह भी असाधारण थी। महायोगी के शरीर में अतिमानसी प्रकाश व्याप्त था जिसे शरीर में लाने के लिए वे निरन्तर साधना करते रहे थे। उसी के कारण शरीर पर मृत्यु के लक्षण भी प्रकट नहीं हो सकते थे। देहत्याग के बाद भी शरीर निर्दोष दिखाई दिया। ५५ घंटे बाद ७ दिसम्बर को प्रधान फ्रांसीसी डाक्टर ने अधिकृत तौर पर घोषणा कर दी थी कि शरीर में कहीं कोई दोष नहीं आया है। भारत भर से दर्शनार्थियों का तांता लगा रहा।

× × ×

५ दिसम्बर के प्रभात में माताजी ने श्री अरविन्द के प्रति कहा था—"हे प्रभु! इस प्रभात को तूने हमें यह आश्वासन दिया है कि जब तक तेरा कार्य सम्पन्न नहीं हो जाता, तू हमारे साथ रहेगा—केवल उस चेतना के रूप में नहीं, जो प्रकाश देती है और पथ-प्रदर्शक है अपितु हमारे कार्य में सक्रिय उपस्थिति के रूप में विद्यमान रहेगा। निर्भ्रान्त शब्दों में तूने यह प्रतिज्ञा की है कि तू सम्पूर्ण भाव में यहां रहेगा और पार्थिव वायुमंडल को तब तक नहीं छोड़ेगा, जब तक पृथ्वी रूपान्तरित नहीं हो जाती। तू ऐसी कृपा कर जिसमें हम इस उपस्थिति के योग्य बनें और पूर्ण भावपूर्वक तेरे उदात्त कर्म की सिद्धि के लिए समर्पित हो जाएं।"

× × ×

८ दिसम्बर को माताजी ने सन्देश दिया कि जब श्री अरविन्द—चेतना को उन्होंने पुनः शरीर में प्रवेश करने के लिए कहा तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वे जानबूझ कर छोड़े गए शरीर को पुनः ग्रहण नहीं करेंगे और श्री अरविन्द ने यह भी कहा --"मैं फिर अतिमानसी शरीर में प्रकट होऊंगा।"

× × ×

९ दिसम्बर को देहत्याग के १११ घंटे बीतने के साथ अतिमानसिक प्रकाश चले जाने के पश्चात् श्री अरविन्द को महासमाधि दे दी गई।

× × ×

श्री अरविन्द की समाधि पर अंग्रेज़ी में श्री अरविन्द की देह के प्रति ये श्रद्धापूर्ण विचार अंकित हैं—

"तुझे, जो हमारे गुरुदेव का भौतिक कलेवर रहा, हमारी अनन्त कृतज्ञता ! हम तेरे सम्मुख शीश झुकाते हैं, तेरे सम्मुख, जिसने हमारे लिए इतना किया, हमारे लिए इतना कार्य किया, इतना संघर्ष किया, इतना कष्ट सहा, इतनी आशा की, इतना सहन किया और हमारे लिए सब संकल्प किया, सब प्रयत्न किया, सब तैयार किया, सब प्राप्त किया। हम तुझसे याचना करते हैं कि हम स्वयं पर तेरे ऋण को कभी न भूलें, एक क्षण के लिए भी नहीं।"

१४. श्री अरविन्द अमर हैं

श्रद्धांजलियां

महायोगी श्री अरविन्द की महासमाधि के समाचार ने देश को ही नहीं, विश्व भर को चौंका दिया।

श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था—"प्राचीन ऋषियों के समान एक निर्भीक और सत्साहसी चिन्तक के साथ ही साथ श्री अरविन्द महान कार्य करने वाले व्यक्ति भीथे। पश्चिमी साहित्य का उन्होंने पूर्ण अवगाहन किया था। उसी प्रकार उन्होंने अपनी जन्मभूमि के प्राचीन समृद्ध ज्ञान-विज्ञान का भी गहरा अध्ययन किया था। किन्तु वे मात्र 'अध्येता' शब्द के सामान्य अर्थ में अध्यवसायी नहीं थे। लिखित और कंठस्थ शास्त्रों के इस स्वाध्याय को उन्होंने अपनी अनवरत व सुदीर्घ साधना से पुनः परीक्षा कर और भी अधिक शक्तिशाली बनाया था। उनका शरीर, वर्ष के कुछ नियत दिनों पर, अव कतिपय सौभाग्यशालियों को भी देखने को नहीं मिलेगा, किन्तु उन्होंने जो सन्देश दिए हैं और वे आध्यात्मिकता की जो सुगन्धि छोड़ गए हैं, वे इस देश की नहीं अपितु विशाल विश्व की अभी अजन्मी पीढ़ियों तक के लिए प्रेरक रहेंगे। भारत उनकी स्मृति की पूजा करेगा और अपने देश के महान तत्त्वदर्शियों और धर्मदूतों की पवित्र परम्परा में प्रतिष्ठापित करेगा।"

समाचारपत्रों की सुर्खियों, शोकपूर्ण समाचार के विवरणों तथा सम्पादकीयों और श्रद्धांजलियों में देश के बुद्धिजीवियों व जन-जन की श्री अरविन्द के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा तथा आत्मीयता उभर कर ऊपर आ गई थी।

विश्व-भर में शोक को अनेक प्रकार से व्यक्त किया गया। कितने ही विश्वविद्यालय उनके शोक में बन्द रहे। भारतवर्ष तो पूर्णतया शोकाकुल था, वैसे ही जैसे पांडीचेरी का आश्रम। 'कुछ नीलिमा लिए स्वर्ण प्रभामंडल' से आवृत्त श्री अरविन्द के शव के समान ही सम्पूर्ण विश्व कालिमा में डूब गया था।

श्री अरविन्द का यश

देश-विदेश के सैकड़ों विद्वानों ने श्री अरविन्द के महान व्यक्तित्व एवं कृतित्व

पर प्रकाश डालने वाले लेख व ग्रंथ तो लिखे ही हैं, उनके विचार-दर्शन का गम्भीर अध्ययन भी विश्व-भर में चल रहा है। उसके सुयोग्य शिष्यों—श्री ए० बी० पुराणी, श्री दिलीप कुमार राय, श्री नलिनीकान्त गुप्त, श्री नीरदवर्ण, डा० के० आर० श्रीनिवास आयंगर, श्री पवित्र, श्री आर्जव, श्री नवजात आदि ने उनके विचारदर्शन को लोकप्रिय करने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। श्री अरविन्द के व्यक्तिगत सम्पर्क या उनके साहित्य के सम्पर्क में आने वाले साहित्यकारों की संख्या भी अत्यन्त विशाल है। भारत की प्रायः सभी भाषाओं के साहित्यकारों में से अनेकानेक को श्री अरविन्द-चेतना ने प्रभावित किया है। इसरायल, फ्रांस, अमरीका आदि देशों में भी उनके प्रशंसकों की, भक्तों की बड़ी संख्या है। राजनीतिक क्षेत्र, पत्रकारिता-क्षेत्र तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में कार्य करने वाले सहस्रों व्यक्तियों ने उनसे प्रेरणा ली थी और ले रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र में नेताजी सुभाषचन्द्र वसु इत्यादि उनसे अत्यधिक प्रभावी रहे थे। १९६८ में श्री जय स्मिथ द्वारा संपादित 'पायोनियर आफ सुपरामेंटल एज' नामक पुस्तक में प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के श्रद्धा-सुमनों का भव्य संकलन है।

श्री अरविन्द-पथ की प्रकाशस्तंभ श्री माताजी

श्री अरविन्द-पथ की प्रकाशस्तम्भ श्रीमाताजी के व्यक्तित्व में श्री अरविन्द-चेतना का दर्शन आश्रम के साधक यों ही नहीं करते, सचमुच वे एक आध्यात्मिक महाशक्ति हैं। श्री अरविन्द और उनमें अन्तर किया ही नहीं जा सकता क्योंकि श्री अरविन्द को वे पूर्णतया समर्पित ही नहीं, उनकी साधना में सहायिका भी थीं। श्रीमाताजी के मार्गदर्शन में साधकों का श्रद्धालु दल अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ रहा है। आश्रम की प्रगति, अरविन्द नगरी (आरोवील) की स्थापना तथा श्री अरविन्द-कर्मधारा के अन्तर्गत चलने वाली गतिविधियां इसका प्रमाण हैं।

शाश्वत श्री अरविन्द-जन्म

श्रीमाताजी के अनुसार श्री अरविन्द का जन्म शाश्वत है। उनके ही शब्दों में—"विश्व-इतिहास में श्री अरविन्द का जन्म 'शाश्वत' है। चेतना के चार आरोहणशील स्तरों पर इस वाक्य को हम चार प्रकार से विचार सकते हैं—

१. भौतिक रूप से, इनके जन्म के परिणाम विश्व में शाश्वत महत्त्व के होंगे।
२. मानसिक रूप से, यह एक ऐसा जन्म है जिसे विश्व-इतिहास सदा स्मरण रखेगा।
३. अन्तरात्मिक दृष्टि से, यह एक ऐसा जन्म है जो युग-युग में सदैव होता रहा है।

४. आध्यात्मिक दृष्टि से, भूलोक में यह स्वयं सनातन का अवतरण है।"

श्री अरविन्द अमर हैं

निस्सन्देह श्री अरविन्द इतनी महान विभूति हैं, इतने महान योगी और मनीषी हैं कि उन्हें विश्व कभी भूल नहीं सकता। किन्तु भारतवर्ष भी क्या उन्हें मात्र स्मरण रखकर ही निश्चिंत हो जाएगा ? क्या भारत की पीढ़ियां स्वातन्त्र्य-योद्धा और महायोगी श्री अरविन्द को मात्र श्रद्धापुष्प अर्पित करके ही उन्हें अमर रखेगी ? वस्तुतः श्री अरविन्द को अमर करने में भारत का सच्चा योगदान तब होगा जब भारत भौतिकवाद पर आध्यात्मिकता की सफल प्रतिष्ठा, सिद्धान्त में ही नहीं, व्यावहारिक जीवन में करता हुआ, सर्वांगीण विकसित भारत को परम वैभव के शिखर पर ले जाएगा और उसे विश्व-एकता का महान पथ-प्रदर्शक बनाएगा। उनके द्वारा पोषित भावनाओं, विचारों व साधनाओं के वटवृक्ष के रूप में श्री अरविन्द चिर अमर हों, यही हमारा प्रयत्न होना चाहिए।

वर्तमान भारत को श्री अरविन्द का सन्देश

वेदान्त और योग को जीवन में चरितार्थ करने वाले श्री अरविन्द सनातन धर्म की नवनवोन्मेषशालिनी शक्ति के असाधारण उदाहरण थे। उनका ज्ञान साक्षात्कृत, उनका योग साक्षात्कारी तथा उनका जीवन दिव्य-प्रेरणा से चालित होने के कारण उनकी बात-बात में मंत्र-शक्ति का दर्शन होता है। त्रिकालाबाधित ऋषि-दृष्टि-प्राप्त श्री अरविन्द ने जिस सूक्ष्मता से भारतराष्ट्र की चिति के स्वरूप को हृदयंगम कराने के लिए अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण काल राजनीति को अर्पित किया, उसी सूक्ष्मता से अतिमानस को पृथ्वी पर उतारने की अपनी पद्धति की दार्शनिक प्रस्तुति तथा तदर्थ साधकों के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने राजनीति से विराम भी लिया। उनके भाषणों,लेखों व ग्रन्थों तथा पत्र-व्यवहार या प्रत्यक्ष बात-चीत में दिए गए वक्तव्यों की विशाल राशि के आंशिक आकलन से भी यह स्पष्ट हो सकता है कि श्री अरविन्द ने मानव की व्यष्टिगत तथा समष्टिगत, चिरकालिक तथा एतत्कालिक, सार्वभौम तथा एतद्देशीय और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अनेकानेक समस्याओं के स्वरूप का अन्तर्बाह्य निरीक्षण और आकलन कर उनका एक तर्कपूर्ण तथा अनेक अंशों में मौलिक समाधान भी प्रस्तुत किया है। निस्सन्देह व्यक्ति औरसमाज की जो समस्याएं आज विश्व-भर के मनीषियों की चिन्ता अथवा चिन्तन का विषय बनी हैं, उन पर सामान्यतः समस्त मानवता को और विशेषतः हम भारतीयों को, श्री अरविन्द के महान् विचार-दर्शन के प्रकाश में, विचार करना समाधान के समीप पहुंचाने वाला है क्योंकि श्री अरविन्द का चिन्तन पूर्व और पश्चिम, धर्म और विज्ञान, अतीत और वर्तमान, आस्तिकता और नास्तिकता आदि

सभी को ग्रहण करता हुआ तथा अन्ततः उनसे ऊपर उठकर एक अधिक दीप्तिमान लक्ष्य की ओर उन्मुख होता हुआ दिखाई देता है। उनमें एक साथ दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द, एक साथ शिवाजी, रामदास व ज्ञानेश्वर, एक साथ राम, वसिष्ठ और वाल्मीकि प्रभृति त्रिकों के दर्शन होते हैं। उनमें ज्ञान, भक्ति और कर्म, तंत्र, योग और विज्ञान, विश्लेषण और संश्लेषण, विचार और विचारातीतता इत्यादि का ऐसा सुन्दर समन्वय मिलता है कि लगता है कि विश्व जिस आनन्द के राजकोष की कुंजी के अभाव में समस्त वैज्ञानिक उपलब्धियों के होते हुए भी विषण्ण तथा निराश-सा हो रहा है, उसे ही भारतभूमि में प्राचीन काल के ऋषियों द्वारा सुरक्षित रखी जाने के पश्चात् भी विस्मृत हो गयी देखकर श्री अरविन्द ने उठाकर, चमकाकर, पुनः प्राप्य बना दिया है। श्री अरविन्द का सन्देश युग-युगों के लिए है, यह सत्य है क्योंकि वह शाश्वत तत्त्वों पर आधारित विकास का राजमार्ग है तथापि यह तो और भी सत्य है कि वर्तमान के लिए वह और भी अधिक उपादेय है क्योंकि उस कर्मयोगी की महासमाधि के पश्चात् से अभी तक भारत व विश्व की समस्याओं के समाधान अथवा परिस्थितियों की दृष्टि से स्थिति पहले से बिगड़ी ही है, बनी नहीं और भौतिकतावादी झंझावात प्रभृति बाधाएं विकरालतर ही हुई हैं, मृदुतर नहीं।

श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन परिपूर्ण आध्यात्मिक दर्शन है जिसमें भौतिकवादी जीवन-दर्शन भी समाविष्ट है और सभी धर्म स्वीकृत हैं अर्थात् जिसमें न देह की अस्वीकृति है, न आत्मा की और जिसके अनुसार नास्तिक का आत्मा को नकारना उतना ही त्रुटिपूर्ण है जितना संन्यासी का देह या विश्व को नकारना। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के स्वरूप का यथार्थ साक्षात्कार कराने वाली उनकी दृष्टि 'ब्रह्म ही परम सत्य है तथा विश्व ब्रह्म है' का सन्देश देती हुई आज भारत व यूरोप दोनों में ही अतिवाद से हुई भूलों का संकेत करती हुई एक वांछनीय सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त करती है। अनीश्वरवाद या अज्ञेयवाद की भी उपयोगिता है—परमतत्त्व-सम्बन्धी हमारी भ्रांति का स्मरण कराने के लिए। "नास्तिकता मठ-मन्दिरों और गिरजाघरों की बुराइयों तथा सम्प्रदायों की संकीर्णता के विरुद्ध एक आवश्यक प्रतिक्रिया है। ईसा और रामकृष्ण के अन्दर ही भगवान को देखना और उनकी वाणी सुनना यथेष्ट नहीं है, हमें हक्सले और हैकेल के अन्दर भी उन्हें देखना होगा और उनकी वाणी सुननी होगी।" 'दी लाइफ डिवायन' में श्री अरविन्द ने अपने तत्त्वज्ञान को प्रस्तुत किया है। उसमें अद्वैत वेदान्त को जिस प्रकार युगीन भाषा में प्रस्तुत किया गया है—विज्ञान, मनोविज्ञान, पाश्चात्य दर्शन तथा अपनी अनुभूति के आधार पर—उसे देखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि पृथ्वी पर रहते हुए सत्ता के सीमित और खण्ड-खण्ड रूप से ऊपर उठकर उसका समग्रतापादनरूप की उपलब्धि करना, अशुभ के परित्याग व शुभ

के ग्रहण की निरन्तर साधना से अनंत शुभ में पहुंचकर शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से अतीत हो जाना तथा "स्वतःस्फूर्त सत्य-ज्ञान, सत्य-इच्छा, सत्य-संप्रतीति, सत्य-गति-प्रवृत्ति और सत्य-कर्म को अपनी प्रकृति का समग्र धर्म" बनाने के लिए सनातन ऋत-चिते को अधिकृत करना आदि दुरूहतम प्रक्रियाओं को सुगमतम रूप में प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता उतनी ही वंदनीय है जितना यह सन्देश। मन व बुद्धि की उपयोगिता और सीमाएं वैज्ञानिक रीति से प्रतिष्ठित करने वाले उनके तत्त्वज्ञान में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—चिति के ब्रह्मशक्तित्व का उद्घाटन तथा उसके विभिन्न मात्रा में आवरणों से जड़ से लेकर उच्चतर चेतना के स्तरों का विकास-स्पष्टीकरण अर्थात् पदार्थ व चेतना का एक ही सत्ता के दो छोरों के रूप में वर्णन। उनके अतिरिक्त भी कुछ विद्वानों ने समन्वय करने का प्रयास किया है जैसे अरस्तू, लाइबनित्स और हेगेलने दार्शनिक दृष्टि से भौतिकवाद और चेतनावाद के समन्वय का प्रयास किया है किन्तु श्री अरविन्द का वैशिष्ट्य यही है कि उनकी अपनी दृष्टि बौद्धिक मात्र नहीं है अपितु गंभीरतर आध्यात्मिक चेतना के आधार पर साक्षात्कृत प्रज्ञा से आलोकित।

अपने जीवन-दर्शनको जीना, यह उनकेजीवन से मिलने वाला एक खुला किन्तु अत्यंत महत्त्वपूर्ण संदेश है। आई० सी० एस० के कगार पर पहुंचकर भी अपने जीवन-दर्शन से उसका तालमेल बैठता न दीखने के कारण उस सुनहली नौकरी का निर्मोहपूर्वक परित्याग कर देने वाले श्री अरविन्द अपने जीवन-दर्शन को जीने के लिए ही क्रांतिकारी बने थे और जहां लोकमान्य तिलक 'स्वराज्य' का उद्घोष ही कर सके थे और गोपालकृष्ण गोखले "केवल पागलखाने के सामने खड़ा व्यक्ति ही स्वतन्त्रता की बात सोच या कह सकता है।···ब्रिटिश शासन का कोई विकल्प नहीं है, न अभी, न भविष्य में काफी समय तक" कह कर अपनी दूरदर्शिता की मात्रा प्रकट कर रहे थे, उस समय श्री अरविन्द ने देश के पूर्ण स्वातंत्र्य का डंके की चोट पर उद्घोष भी अपने जीवन-दर्शन को जीने के लिए ही किया था। अपनी प्रिय पत्नी मृणालिनी देवी को लिखे गए ३० अगस्त १६०५ के उनके प्रसिद्ध पत्र में जिन तीन पागलपनों अर्थात् धुनों का उन्होंने उल्लेख किया है, वे भी जीवन-दर्शन को व्यवहार में उतारने की उनकी एकान्त निष्ठा की ही परिचायक हैं। केवल बौद्धिकतावादी बने रहने, ऊंचे आदर्शों को वाणी या लेखनी तक ही सीमित रखने, सिद्धान्तों पर सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित करते जाने किन्तु व्यवहार में इंच भर भी न बदलने वाले बुद्धि-विलासियों का वर्तमान विश्व में बाहुल्य तथा आधुनिकतावादियों का कोरा दंभ देखकर यह सहज ही लगता है कि बौद्धिक जगत् को उनका यह संदेश नितान्त सार्थक है—"विचारक बनो पर साथ ही करने वाले भी बनो", ठीक वैसे ही जैसे पूजापाठ में लगे रहने वालों तथा सक्रिय जीवन से पलायन करने वालों को उनका यह संदेश—"आत्मा बनो पर साथ ही मनुष्य

भी बनो। परमेश्वर के सेवक बनो पर साथ ही प्रकृति के स्वामी भी बनो।" आत्मा, दृष्टि, संकल्प और क्रिया में सत्य की वैदिक शिक्षा उनके संदेश के अन्तर्गत भी आती है क्योंकि उनका जीवन-दर्शन सत्य की उपासना का ही परिणाम है। वे मात्र कथन इससे संतुष्ट नहीं हो सके थे कि ईश्वर परमसत्य है और हिन्दू धर्म की शिक्षाएं ईश्वर की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं। वे इस सत्य की स्वयं परीक्षा करने के लिए सिर पर कफन बांधकर निकले और अंत में जब उन्होंने उसकी पुष्टि कर ली तब भी वे आगे ही बढ़ते चले गए और प्राचीन ऋषियों ने किन्हीं कारणों से जिस स्तर के आगे का वर्णन नहीं किया है उसके आगे तक भी वे पहुंचे और पथ पर चलते-चलते स्वयं राजपथ बन जाने वाले उत्कृष्ट पथिक सिद्ध हुए । आज भी आवश्यकता है कि अनुभूत सत्य ही जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा पाए नहीं तो धर्म कोरा 'मत' या 'सम्प्रदाय' रह जाएगा अथवा 'सिद्धान्त' या वाग्विलास मात्र। इसी के लिए उनका पूर्ण योग का मार्ग 'क्षुरस्यधारा-पथ' होते हुए भी अनेकानेक साधकों का प्रिय बना है। उनका दर्शन, योग से युक्त है और योग, दर्शन से। यहां सिद्धान्त और व्यवहार, तत्त्वज्ञान और साधना परस्पर पूरक हैं, निरपेक्ष नहीं। ऐसा योगयुक्त सर्वांगीण जीवन-दर्शन ही आज विश्व की आवश्यकता है।

श्री अरविन्द ने इतिहास के स्वरूप, मानव एकता का भविष्य और राष्ट्रीयता की यथार्थ धारणा के विषय में अमूल्य मार्गदर्शन किया है। इतिहास की अर्थपरक व्याख्या करने वाले तथा मानव एकता के साम्यवादी-समाजवादी चित्र को खींचते वाले मार्क्स सदृश विचारकों से विश्व अत्यन्त प्रभावित हुआ है। कम्युनिज़्म के राजनीतिक उत्थान के साथ ही मार्क्स की सभी मान्यताओं के प्रति श्रद्धा का उमड़ना और कम्युनिज्म के अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के शिथिल पड़ने और बिखरने के साथ मार्क्स की सभी मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगने के कारण अभी यह कहना सम्भव नहीं है कि मार्क्स का मूल चिन्तन अपनी क्या छाप मानव-इतिहास में छोड़ेगा। तथापि, यह स्पष्ट है कि वह सफल नहीं हो सका है और एकांगी जीवन-दर्शन से इसकी आशा भी नहीं करनी चाहिए। श्री अरविन्द का चिंतन सर्वांगीण होने से वे अर्थ की उपेक्षा नहीं करते किन्तु उसी को ही सब कुछ स्वीकार भी नहीं करते। वे पूंजीवाद के आलोचक हैं और कम्युनिज्म के सैद्धान्तिक और व्यवहार में दिखाई पड़ने वाले रूप के भी। धन को एक विश्वजनीन शक्ति का स्थूल चिह्न मानते हुए वे 'दरिद्रता और अपरिग्रह का होना ही आध्यात्मिक स्थिति' मानने की भूल के प्रति सावधान करते हैं। उनके अनुस,र "धनराशि और उससे प्राप्त होने वाले साधनों और पदार्थों से न तो वैरागियों की तरह भागना चाहिए और न इनकी कोई राजसी आसक्तिया इनके भोग में पड़े रहने कीदासत्व-वृत्ति ही पोसनी चाहिए। धन को केवल यह समझो कि यह एक शक्ति है जिसे माता की सेवा के लिए जीतकर लौटा लाना और उन्हीं की सेवा में अर्पण करना

है। सारा धन भगवान का है और यह जिन लोगों के हाथ में है वे उसके रक्षक हैं, मालिक नहीं।……कोई मनुष्य धनी है केवल इसीलिए उसके सामने सिर नीचा मत करो। उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभाव के वशीभूत मत हो।" इस दृष्टिकोण से अर्थ भी एक भागवती शक्ति मात्र है, परम सत्ता के विश्वास की सेवा का एक उपकरण मात्र। और, वह भगवती शक्ति ही इस विश्व के रूप में लीला कर रही है। इतिहास की ऊपर से प्रयोजनहीन और आपाततः विरोधी घटनाएं उसी भगवती के द्वारा संचालित हैं। विश्व परमतत्त्व कालपुरुष की शक्तियों का खेल है और विश्व-इतिहास सप्रयोजन। आत्मा तथा मानवता के दिव्यत्व का निरन्तर अधिकाधिक उद्घाटन ही ऐतिहासिक विकासक्रम का लक्ष्य है। 'अतिमानस' का अवतरण भी उसीके अन्तर्गत होगा।

मानवता के विकास में लोकतन्त्र के साथ ही समाजवाद को एक पग मानते हुए भी वे उसे अंतिम मंजिल स्वीकार नहीं करते क्योंकि वह सर्वशक्तिमान निरंकुश राज्य का पोषक होने से मानव का विकास अवरुद्ध करने को बाध्य है। न्यूनतम सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाएं प्रदान करने की घोषणा के कारण समाजवाद सराहनीय है तो राज्य के प्रति व्यक्ति के पूर्ण समर्पण तथा स्वतन्त्र कार्यों को छोड़कर संगठित सामूहिक सक्रियता की अनिवार्यता तथा उसे मानव-प्रगति का सर्वोत्तम साधन घोषित करने की बात समाजवाद का दंभ मात्र है। राज्य का सर्वोत्तम उपयोग यही है कि व्यक्ति-व्यक्ति के सहयोगात्मक कार्य के लिए वह संभव सुविधाएं दे और बाधाएं दूर करे तथा सभी को समान अवसर दे। "यहां तक तो आधुनिक समाजवाद का लक्ष्य ठीक और अच्छा है किन्तु मानव विकास के स्वातन्त्र्य में उसका अनावश्यक हस्तक्षेप हानिकारक है अथवा हो सकता है।"

अरविन्द का सन्देश है पूंजीवाद-समाजवाद-साम्यवाद आदि की अधकचरी पद्धतियों में समय नष्ट न करते हुए अध्यात्मीकृत समाज का निर्माण कर विश्व को शत-शत समस्याओं से मुक्त करना। वे केवल मानवतावाद या मानव सेवावाद की दुर्बलता से सावधान करते हैं क्योंकि अपूर्ण मानवों के द्वारा पूर्ण समाज की स्थापना असंभव है। नैतिकतावाद से भी अंतिम समाधान नहीं मिल सकता क्योंकि देश-काल-सापेक्ष नैतिकता स्वयं ही परम शुभ को व्यक्त करने में असमर्थ है। यही नहीं मनुष्य की आध्यात्मिकता के परिचायक धर्मसम्प्रदाय भी मानव-एकता में पंथमूलक कट्टरता के कारण एक बाधा बनने को बाध्य है। अतः आर्थिक क्षेत्र में कुछ फेरबदल, नैतिकता पर कुछ विचार-विमर्श, मानवतावाद की किसी आंधी या किसी नए सम्प्रदाय की स्थापना से मानव-एकता की स्वप्न-पूर्ति असंभव है। एकात्म मानववाद के जिस सूत्र को लेकर पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने अपनी व्याख्या का विषय बनाकर महत्त्व प्रदान किया है, अरविन्द उसी सूत्र के प्रथम उद्घोषक हैं। श्री अरविन्द के अनुसार "सच्चा समाधान केवल तभी मिल सकता

है जब अपने आध्यात्मिक विकास के द्वारा हम समस्त जीवों के साथ एकरूप हो जाएं, उन्हें अपने आत्मा का अंश जानें, उनके साथ इस प्रकार व्यवहार करें मानो वे हमारे ही दूसरे आत्मा हैं।"

आध्यात्मीकृत समाज में ही उस 'अतिमानस' का अवतरण हो सकता है जो सर्वज्ञानसम्पन्न है तथा विश्व का सृष्टा व ज्ञाता है तथा जिसके द्वारा मनुष्य 'अति-मानव' में विकसित होकर आज के मानव से इतना भिन्न प्रतीत होने लगेगा जितना आज वह पशुओं से भिन्न प्रतीत होता है।

श्री अरविन्द ने मानव-एकता के व्यावहारिक स्वरूप का वर्णन करते हुए विश्व सरकार की स्थापना पर भी विचार प्रकट किए हैं और उनका १५ अगस्त १९४७ को प्रसारित सन्देश भी 'विश्व-एकता' का मंत्र देता है। उन्हीं के शब्दों में—"मेरा तीसरा स्वप्न था विश्व-एकता, जो सारी मानवता के लिए एक अधिक उप-युक्त, अधिक उज्ज्वल और अधिक श्रेष्ठ जीवन का आधार बने। संसार का यह एकीकरण हो रहा है। एक अधूरा प्रारम्भ हो चुका है किन्तु वह भयंकर कठिनाइयों से जूझ रहा है। परन्तु गतिशीलता है और वह निस्सन्देह तीव्र होगी व विजय पाएगी।...एकीकरण सबकी भलाई के लिए है और केवल मानवीय दुर्बलता और मूर्खतापूर्ण स्वार्थ ही उसे रोक सकता है। लेकिन प्रकृति की आवश्यकता और विधाता के विधान के सामने ये भी सदैव बाधक नहीं रह सकते। परन्तु एक ऊपरी आधार मात्र पर्याप्त नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय भावना व दृष्टिकोण का विकास होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व संस्थाओं की उत्पत्ति होनी चाहिए और दोहरी या अनेकमुखी नागरिकता, संस्कृतियों के इच्छानुसार विनिमय या स्वेच्छया समन्वय आदि का विकास होना चाहिए। ऐसा होने पर राष्ट्रीयता अपनी पूर्णता को पहुंच सकेगी, अपनी उग्रता खो देगीतथा अपनी आत्मरक्षा और अपने दृष्टिकोण की सम्पू-र्णता के लिए इन बातों को घातक नहीं समझेगी। मानवजाति में एकता की एकनई भावना का उदय होगा।" इन शब्दों से यह सहज ही समझा जा सकता है कि विश्व की एकता या मानव-एकता अर्थात् मनुष्य जाति को एक अखण्ड जाति और उसका एक-सा जीवन व समान हित मानने की बात श्री अरविन्द को प्रिय थी किन्तु मात्र 'अन्तर्राष्ट्रीयता-वाद' उनकी शिक्षा नहीं है। वे व्यक्ति की आत्मा और वैसे ही राष्ट्र की आत्मा और ठीक वैसे ही विश्व की आत्मा के स्वतंत्र विकास के लिए तथा पार-स्परिक टकरावों से बचाने के लिए सही दिशा का निर्देश करने वाले एकात्म मानव-वादी चिन्तक हैं। उनके अनुसार विश्वराज्य की निर्मिति केपश्चात् इस "परिवर्तन को स्थायी बनाने के लिए मनुष्य-जाति के एक ऐसे धर्म या उसकी समतुल्य भावना की आवश्यकता पड़ेगी जो अपने प्रभाव में देश के राष्ट्रीयतावादी धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली स्पष्ट स्वचेतन और सार्वभौम हो। मनुष्य अपने सम्पूर्ण चिन्तन और जीवन में मनुष्य-जाति के अन्दर एक ऐसी अभिन्न आत्मा को स्पष्ट

रूप में स्वीकार कर ले जिसका प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राष्ट्र मूर्त रूप और आत्म रूप है। मनुष्य उस अहंभाव के सिद्धान्त से ऊपर उठ जाए जो पृथकता के सहारे जीता है, फिर भी व्यक्तित्व का नाश नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके बिना मनुष्य पंगु हो जाएगा। सामान्य जीवन के एक ऐसे सिद्धान्त और एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो जो वैयक्तिक विविधता को, विभिन्नता में आदान-प्रदान को तथा साहसिक कार्य और विजय की आवश्यकता को मुक्त रूप से कार्य करने दे—ये सब वस्तुएं मनुष्य की आत्मा को जीवित रखतीं तथा महान् बनाती हैं—और साथ ही इसके फलस्वरूप, मानव समाज के नमनीय और प्रगतिशील रूप में समस्त जटिल जीवन और विकास को व्यक्त करने के पर्याप्त साधन प्राप्त हो जाएं।" विश्व-राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में 'लीग आफ नेशंस' तथा 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के प्रयासों को दुर्बल पाकर भी श्री अरविन्द उनसे भविष्य की महती संभावनाओं का प्रादुर्भाव मानते हैं और आध्यात्मिक विकास प्राप्त मानवों का संख्या-बाहुल्य होने से पहले इन 'यांत्रिक साधनों' से मानव-एकता-प्राप्ति के प्रयासों की सराहना करते हैं क्योंकि अंततः मानव-विकास-क्रम में विश्व-राज्य की अवस्था आनी ही है।

श्री अरविन्द की विचार-सरणी में राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद का अपना विशेष महत्त्व है। उन्हें ठीक ही 'भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत' कहा गया है। भारत राष्ट्र की आत्मा का जैसा यथार्थ साक्षात्कार उन्होंने किया था, उसके समकक्ष पहुंचने का अवसर मिलना भी सौभाग्य की ही बात है। वंकिमचन्द्र के 'वन्देमातरम्' का मानसिक साक्षात्कार उन्होंने किया था। राष्ट्रात्मा का यह साक्षात्कार राष्ट्र-निर्माण के लिए अनिवार्य तत्त्व है। उनकी राष्ट्रकल्पना शुद्ध आध्यात्मिक अधिष्ठान पर प्रतिष्ठित है। 'भवानीमन्दिर' योजना के पत्नक में उन्होंने स्पष्ट लिखा था—

"राष्ट्र क्या है ? हमारी मातृभूमि क्या है ? वह भूखण्ड नहीं है, वाग्विलास नहीं है और न कोरी मानस-कल्पना है। वह महाशक्ति है जो राष्ट्र का निर्माण करने वाली कोटि-कोटि जनता की व्यष्टि की शक्तियों का समष्टि रूप है।...वह तीस कोटि जनता की व्यष्टियों की जीवन्त समष्टि है।"

निस्सन्देह राष्ट्र की यह भावपूर्ण एवं भावात्मक कल्पना कोई मानस कल्पना नहीं है अपितु सत्य के साक्षात्कार की अभिव्यक्ति है। स्वामी रामतीर्थ और अन्य कुछ विचारकों ने भी भारतवर्ष की इस मातृकल्पना का भावुक वर्णन किया है, चित्र-सा खींच दिया है किन्तु उसका आध्यात्मिक अधिष्ठान श्री अरविन्द ने जितनी स्पष्टता से वर्णित किया है, उतना किसी ने भी नहीं। भावुक कवि, गंभीर दार्शनिक, सूक्ष्म विश्लेषक, प्रखर राजनीतिज्ञ, क्रांतिकारियों के मार्गदर्शक तथा मातृभूमि के चरणों में सर्वस्व अर्पण करने के धुनी श्री अरविन्द की देशभक्ति या राष्ट्री-

यता भी इसी भव्य राष्ट्र-कल्पना के अनुरूप ही है। 'बम्बई नेशनल यूनियन' के तत्त्वावधान में आयोजित एक सभा में १६ जनवरी, १६०८ को अभिव्यक्त विचारों में उनकी ये पंक्तियां तत्कालीन भारतीय संदर्भ से युक्त होने पर भी कितनी प्रेरक हैं—

"राष्ट्रीयता क्या है ? राष्ट्रीयता केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है। राष्ट्रीयता एक धर्म है जो ईश्वर-प्रदत्त है। राष्ट्रीयता एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार हमें जीना है। राष्ट्रवादी बनने के लिए, राष्ट्रीयता के इस धर्म को स्वीकार करने के लिए तुम्हें इसे धार्मिक भावना से करना होगा। स्मरण रखो कि तुम परमात्मा के निमित्त मात्र हो।"

श्री अरविन्द का यह एक अत्यन्त प्रिय सन्देश है कि राष्ट्रीयता धर्म है, आध्यात्मिक जीवन का एक व्यावहारिक रूप है। विविधता में एकता देखने वाली भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त व्यक्ति ही सच्चा राष्ट्रवादी हो सकता है। यह दृष्टि जीवन में एक स्थान पर स्पर्श करने पर अन्य स्थानों को भी स्पर्श करके सम्पूर्ण जीवन रूपान्तरित करती ही है। ईश्वर से उद्भूत राष्ट्रवाद की महिमा-गरिमा के प्रतिपादन में श्री अरविन्द अप्रतिम हैं। 'वन्देमातरम्' के एक अंक (१६ अप्रैल १६०८) में श्री अरविन्द के ये शब्द अत्यन्त प्रेरणादायक हैं—

"राष्ट्रवाद राष्ट्र में निहित दैवी एकता का साक्षात्कार करने की उत्कट अभिलाषा है। इस एकता के अन्तर्गत राष्ट्र के सभी अवयवभूत व्यक्ति वास्तव में तथा मूलतः एक समान हैं—अपने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यों में वे कितने-ही भिन्न तथा असमान क्यों न प्रतीत होते हों।"

इसी लेख में भारतीय राष्ट्रवाद का योरोपीय राष्ट्रवाद से अन्तर स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था —

"भारत राष्ट्रवाद का जो आदर्श विश्व के समक्ष रखने वाला है उसके अन्तर्गत व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच, जाति तथा जाति के बीच और वर्ग तथा वर्ग के बीच तात्त्विक समानता होगी। जैसा कि तिलक ने कहा है, वे सब भिन्न होते हुए भी समान और राष्ट्र में साक्षात्कृत विराट् पुरुष के अंग होंगे।"

राष्ट्रभक्ति का आधार है मातृभूमि के कण-कण से प्रेम। श्री अरविन्द ने भगवती दुर्गा के रूप में भारतमाता का दर्शन करने की प्रेरणा बंकिमचन्द्र के 'वन्देमातरम्' से ली अवश्य किन्तु इतनी मौलिक व्याख्या के साथ प्रस्तुत की कि श्री गुरुजी (श्रीमाधव सदाशिव राव गोलवलकर) का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है—"यह भूमि जिसे महायोगी अरविन्द ने विश्व की दिव्य जननी के रूप में जीवन्त आविष्करण कर प्रत्यक्ष किया।—जगन्माता ! आदिशक्ति! महामाया ! महादुर्गा !..."

श्री अरविन्द के अनुसार सच्चा देशप्रेम जागेगा ही तब "जब मातृभूमि अन्तः

चक्षुओं के लिए भूखण्ड अथवा जनसमूह मात्र न रहेगी, जब वह उस महासुन्दरी महामाया, महामातृ शक्ति के मनोहारी और हृदयस्पर्शी रूप में ही प्रकटहोगी,तभी माता और उसकी पूजा के सर्वग्राही भावातिरेक में तुच्छ भय और हीन आशाएं तिरोहित होंगी···।" देश-प्रेम का, राष्ट्र-प्रेम का सात्विक और प्रेरक स्वरूप श्री अरविन्द के शब्दों में ही इस प्रकार अंकित है—

"राजनीति में प्रेम का स्थान तो है परन्तु ऐसे प्रेम का जो अपने देश के लिए हो, अपने देशवासियों के लिए हो, अपनी जाति के गौरव, उत्कर्ष और आनन्द के लिए हो, अपने देशवासियों के हितार्थ आत्माहुति के सुख के लिए हो, उनके कष्टों के निवारण से प्राप्त हर्ष के लिए हो, अपने देश और उसकी स्वतन्त्रता के लिए रक्तदान के आनन्द के लिए हो, मरने के बाद पूर्वजों से मिलने वाले सुख के लिए हो। मातृभूमि के रजकण के स्पर्श, भारत के सागरों से आने वाली वायु के झकोरों, भारत के पर्वतों से निकलने वाली नदियाँ, भारतीय भाषा, संगीत और काव्य का श्रवण, भारत की जीवनयापन-पद्धतियों, वेश-विन्यासों, आचार-विचारों और स्वभाव-प्रवृत्तियों आदि से मिलने वाले आनन्द की लगभग भौतिक अनुभूति आदि ही उस प्रेम-वृक्ष का मूल है। अपने अतीत का अभिमान, वर्तमान की वेदना और भविष्य की तीव्र कामना उसके स्कन्ध और शाखा-प्रशाखा हैं। आत्मबलि, आत्म-विस्मृति और देश के लिए अपार कष्ट-सहिष्णुता उसके फल हैं। मातृभूमि में ही पुण्य देवभूमि की प्रतीति, मातृरूप का दर्शन, उसी का निरन्तर ध्यान, सतत चिन्तन और चिरंतन आराधन उसका जीवनरस है।"

राष्ट्रभक्ति का यह महामंत्र वर्तमान भारतीय जनसमाज के लिए पुनः सुनाए जाने की आवश्यकता आ पड़ी है। चारों ओर शत्रुओं से आवृत्त तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विस्फोटावस्था के भय से सतर्क भारतराष्ट्र के प्रत्येक राक्ट्रीय को अपने महान् राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यरत करने के लिए राष्ट्रीयता की जो भावात्मक कल्पना श्री अरविन्द ने तब दी थी, वह शाश्वत महत्त्व की है।

श्री अरविन्द उत्कृष्ट राष्ट्रभक्त थे और उन्हें यह भी स्पष्ट था कि भारत राष्ट्र का जीवन-लक्ष्य क्या है। परमात्मा की विराट् योजना में उसका दायित्व बताते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह वर्तमान के लिए और भी अधिक महत्त्व पूर्ण है क्योंकि स्वतन्त्र भारत का कर्तव्य है कि वह उन लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में गतिशील हो जिनके निमित्त उसकी स्वतन्त्रता का यज्ञ रचाया गया था। श्री अरविन्द ने बार-बार कहा है कि भारत की मुक्ति वस्तुतः मानवमात्र के आध्यात्मिक नेतृत्व के लिए ही अभीष्ट है। प्रसिद्ध उत्तरपाड़ा भाषण में उन्होंने अत्यन्त ओजस्वी स्वर में कहा था—

"सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रवाद है। यह हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म के साथ जन्मा था, इसके साथ ही गतिशील व वृद्धिशील है। जब सनातन धर्म की

अवनति होती है, राष्ट्र अवनत होता है और यदि सनातन धर्म मिट सकता तो यह भी साथ ही मिट जाता। सनातन धर्म ही राष्ट्रवाद है। यही सन्देश है जो मुझे देना था।" उनके अनुसार हिन्दू राष्ट्र अर्थात् भारत राष्ट्र का उत्थान-पतन हिन्दू धर्म अर्थात् सनातन धर्म के उत्थान-पतन से बंधा हुआ है और जैसा उन्होंने १५ अगस्त १९४७ को अपने सन्देश में कहा था—संसार को भारत की आध्यात्मिक देन का उनका स्वप्न फलीभूत होना आरम्भ हो चुका है और यूरोप व एशिया में आध्यात्मिकता का अधिकाधिक प्रवेश हो रहा है। उनके अनुसार 'अतिमानस' के अवतरण में भी 'कार्यक्षेत्र विश्वव्यापी होना चाहिए, किन्तु केन्द्रीय गति भारत में ही जन्म लेगी।"

श्री अरविन्द का सन्देश निरन्तर प्रगति का सन्देश है। वे अतीत से बंधे हुए प्रगति का स्वप्न नहीं देखते और न अतीत का तिरस्कार करके। उनका सन्देश है—"भूतकाल के सांचों को तोड़ डालो परन्तु उनकी स्वाभाविक शक्ति और मूल भावना को सुरक्षित रखो अन्यथा तुम्हारा कोई भविष्य नहीं रह जाएगा।" उनके अनुसार "राष्ट्रीय होने का अभिप्राय एक स्थान पर रुक जाना नहीं है अपितु भूत की संजीवनी शक्ति को ग्रहण करके उसे वर्तमान जीवन की धारा में डाल देना ही वास्तव में पुनरुद्धार और नवनिर्माण का सबसे शक्तिशाली उपाय है।"

श्री अरविन्द का विचारदर्शन किसी भी मत-सम्प्रदाय या दल आदि में सीमित न रहकर परम सत्य से एक रूप होने का सन्देश देता है। उनके अनुसार "कोई मत न तो सत्य होता है, न मिथ्या, बल्कि केवल जीवन के लिए लाभदायक या हानिकारक होता है क्योंकि वह काल की सृष्टि होता है और काल के साथ ही वह अपना प्रभाव और मूल्य खो देता है। तू मत-मतांतर से ऊपर उठ जा और फिर चिरस्थायी प्रज्ञा की खोज कर।" सावित्री महाकाव्य में इसी सूत्र को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

"सत्य विशालतर है, अपने रूपों से बृहत्तर,
उन्होंने उसकी सहस्रों मूर्तियां बनाई हैं,
और उसे उन पूज्य मूर्तियों के पीछे छिपा दिया है
किन्तु वह तो स्वरूपस्थ और अनन्त है।"

श्री अरविन्द ने भारतीय मस्तिष्क की शक्ति व प्रकृति को विदेशी भाषा की दासता से मुक्त करने के लिए अंग्रेजी में शिक्षा देने का सदैव विरोध किया था। स्वयं अंग्रेजी वातावरण में चौदह वर्षों तक ब्रिटेनस्थ रहने के कारण स्वभाषा का अभ्यास न होने से वे अंग्रेजी का प्रयोग भाषण-लेखादि में करते थे किन्तु इसके लिए उन्होंने सदैव लज्जा ही अनुभव की, अभिव्यक्त भी की। वे बंगला भाषा सीख भी गए थे और थोड़ा-बहुत उसमें लिखने-पढ़ने भी लगे थे। उनका यह स्वभाषा-प्रेम उनकी बृहत्तर स्वदेशी-भावना का ही अंग था। स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी शिक्षा,

स्वभाषा, स्वधर्म आदि पर उनका आग्रह आज भी भारतीय राष्ट्र को महत्त्वपूर्ण सन्देश देता है। भारतीय युवकों से, विशेषत. विद्यार्थियों से उनकी यही मांग थी कि वे राष्ट्र-जीवन के लिए स्वयं को समर्पित करने के लिए पूर्ण सक्षम बनें। २२ अगस्त १६०७ को नेशनल कालिज, कलकत्ता के प्राचार्य-पद को त्यागते हुए अपने प्रिय विद्यार्थियों की प्रार्थना पर कहे गये अपने मार्गदर्शक शब्दों में उनका हृदय बोल उठा है। ये शब्द राष्ट्र के नाम उनका शाश्वत संदेश है—

"मैं कामना करता हूं कि तुममें से कुछ को महान बना हुआ देखूं, महान अपनी हितपूर्ति के लिए नहीं, अपने अहंकार की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु मातृभूमि के लिए, भारत को महान बनाने के लिए, ताकि वह विश्व के राष्ट्रों में सम्मानसहित अपना मस्तक ऊंचा कर सके जैसा कि प्राचीन काल में था जब विश्व उससे प्रकाश पाता था। आप में से जो निर्धन व अप्रसिद्ध रह जाएं उनमें भी मैं निर्धनता व अप्रसिद्धि को मातृभूमि के लिए समर्पित करने की बात चाहूंगा।...यदि तुम अध्ययन करो तो उसके लिए अध्ययन करो। उसकी सेवा के लिए अपने मन व आत्मा को प्रशिक्षित करो। जीविका-उपार्जन भी करो तो इसलिए कि उसके लिए जी सको। तुम विदेशों में जाओ तो इसलिए कि वहां से ज्ञान लेकर लौटो, जिससे उसकी सेवा करो। कार्य करो ताकि उसकी समृद्धि हो। कष्ट उठाओ ताकि वह आनंदित हो सके। इसी एक उपदेश में सब कुछ निहित है।" भारतीय युवक को यह प्रेरणाप्रद सन्देश स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

श्री अरविन्द का महान जीवन स्वयं एक चैतन्य सन्देश है। उन्होंने ठीक ही कहा था कि उनका जीवन ऊपरी धरातल पर रहा ही नहीं कि लोग उसे देख सकें और अन्तिम चौबीस वर्ष तो वे एक कमरे में ही रहे। किन्तु, फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि मानव शरीर में अतिमानसी चेतना को अवतरित करके प्रत्यक्ष दिखाने वाले उस महायोगी ने यह सन्देश तो दिया ही है कि परमतत्त्व का साक्षात्कार करने आदि की बातें कोरी पुस्तकीय नहीं हैं तथा उनमें शाश्वत सत्य है किन्तु इसके लिए भारतीय संस्कृति, धर्म व दर्शन के अन्तराल में गहरी डुबकी लगाना एक अनिवार्यता है। पाश्चात्य चकाचौंध में अपने जीवन-मूल्यों को भूलकर परोन्मुख होने वाले भारतीयों को पाश्चात्य चश्मे से अपना रूप देखने से सावधान करते हुए उन्होंने 'कर्मयोगी' में ठीक ही लिखा था—

"भारतीयो, भारत की आध्यात्मिकता, भारत की साधना, 'तपस्या', 'ज्ञान' और शक्ति' ही हमें अवश्य स्वतन्त्र और महान बनावेगी। परन्तु पूर्व के ये महान भाव अंग्रेज़ी के घटिया पर्यायों 'डिसिप्लिन', 'फिलासफी', 'स्ट्रैंग्थ', से ठीक प्रकट नहीं होते।..."

इस प्रकार श्री अरविन्द का सन्देश जो युगीन भाषा में तथा प्रयोगों से साक्षात्कृत वैदिक सन्देश ही है, परिपूर्ण जीवन-दर्शन है। और, कर्मयोगी व आनन्द-पूर्ण भारत व विश्व का निर्माण करने के लिए उसमें अजस्र प्रेरणाशक्ति तथा अनंत सामर्थ्य है। जीवन के सभी क्षेत्रों में संसिद्धि प्रदान करने की महान क्षमता उनकी मंत्र-सदृश वाणी में है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

परिशिष्ट (क)

श्री अरविन्द-नगरी—ऑरोवील—एक परिचय

अज्ञान तिमिर से मुक्त दृष्टि,
सुन्दर सुन्दरतर वन भू पर
धर सत्य महत्तर सत्य चरण,
विकसित होता शिव वन शिवतर !

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

आज विज्ञान के इस युग में मनुष्य भौतिक रूप से काफी आगे बढ़ गया है। तकनीकी दृष्टि से वह अब हर प्रकार के कार्य करने के योग्य अपने को पाता है। अपनी मशीनी शक्ति में एक तरफ स्वयं ईश्वर की चुनौती दे रहा है। भौतिक समृद्धि स्वार्थभरी इच्छाएं, पाशविक बल अपनी चरम सीमा पर हैं, आराम की प्रत्येक वस्तु उसको उपलब्ध है, दूरी की समस्या उसकी नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह हर प्रकार से अपने आपकोयोग्य, बली तथा बुद्धिमान पाता है, लेकिन फिर भी वह सुखी नहीं है। उसके चारों ओर निराशा ही निराशा है, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है। वह शांति के लिए तड़प रहा है, वह चाहता है कि वह इस सबको छोड़कर आतमसुख के लिए कहीं भाग जाए, लेकिन कहां ? ऐसी अन्धकारमय स्थिति में श्री अरविन्द ने प्रकाश की एक नई किरण दिखाई। उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की जहां सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् और 'वसुधैव कुटुम्वकम्' दैनिक जीवन में चरितार्थ हो पाए। श्री अरविन्द के इस स्वप्न को सत्य में परिणत करने का संकल्प किया श्री मां ने और इस स्वप्न का परिणत रूप है श्री अरविन्द (आरोबिंदो) के नाम पर 'ऑरोवील' अर्थात् 'उषा'।

ऑरोवील एक ऐसी नगरी की कल्पना है जहां मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता से नागरिक बनकर परम सत्य की खोज करेगा। जहां अन्तहीन शिक्षा, सतत् विकास एवं पूर्ण यौवन रहेगा। जहां भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पहलुओं पर खोज होगी, क्योंकि वास्तविक मानव एकता के लिए दोनों का समन्वय आवश्यक है।

आरोवील की आधार-शिला २८ फरवरी, १९६८ को रखी गई तथा आधार-शिला के स्थान पर १२१ देशों तथा भारत के समस्त प्रान्तों की मिट्टी लाकर डाली गई थी। इस मिट्टी से एक कमल की कलात्मक रचना प्रतीकात्मक रूप में श्री अरविन्द-कमल का भी स्मरण कराती है, पद्माकारा पृथ्वी पर स्थित मानवों की एकता का भी। इस अवसर पर श्री माताजी की निम्न घोषणा पढ़ी गयी थी—

"ऑरोवील विशेष रूप से किसी का नगर नहीं है।

"यह पूरी मानव जाति का है किन्तु इसमें रहने के लिए व्यक्ति को भागवत चेतना का सहर्ष सेवक बनना होगा।

"आरोवील अन्तहीन शिक्षा का सतत विकास एवं अनन्त यौवन का स्थल होगा।"

"आरोवील भूतकाल एवं भविष्य के मध्य एक सेतु बनना चाहता है। अन्दर और बाहर की सभी खोजों से लाभान्वित होताहुआ ओरोवील साहसपूर्वक भविष्य की उपलब्धियों की ओर बढ़ेगा।

"ऑरोवील वास्तविक मानव एकता को सजीव रूप में मूर्तिमन्त करने के लिए भौतिक एवं आध्यात्मिक खोजों का स्थान होगा।

"उन लोगों के लिए जो आनन्द और मुक्ति को अनुभव करना चाहते हैं, जो व्यक्तिगत सम्पत्ति से प्राप्त नहीं होती, धन का उपयोग धन कमाने के लिए नहीं होना चाहिए इसका कार्य है, नयी सृष्टि के लिए पृथ्वी को तैयार करना।"

आरोवील के विषय में श्री माताजी का कहना है—"पृथ्वी पर एक ऐसा स्थान होना चाहिए जहां व्यक्ति सभी प्रकार की राष्ट्र सम्बन्धी प्रतिद्वन्द्विता से, सामाजिक प्रथाओं से, विपरीत नैतिकता से और परस्पर विरोधी धर्मों से सुरक्षित रह सके, एक ऐसा स्थान जहां भूतकाल की दासताओं से मुक्त होकर मनुष्य पूर्णतया अपने आपको भागवत चेतना की खोज के प्रति समर्पित कर सकें और क्रियान्वित कर सकें उस चेतना को जो अभिव्यक्त होना चाहती है।"

उनकी घोषणा के अनुसार आरोवील "उन सब लोगों के लिए खुला है जो आने वाले कल के सत्य को जीवन में उतारना चाहते हैं।"

आरोवील धरा पर पूर्ण आध्यात्मिक नवजीवन का प्रशस्त स्तम्भ है। इसका आरम्भ होगा एक 'आदर्श नगर' से और समाप्ति होगी 'पूर्ण विश्व' से। संस्थापकों की भावना के अनुसार आरोवील का लक्ष्य है—मानव का अतिमानव में विकास, किन्तु साथ ही उसके द्वारा पूर्ण अर्थात् आध्यात्मिक समाज का निर्माण भी होगा तथा मानव एकता की स्थापना भी होगी।

'आरोवील', पांडिचेरी से ६-७ मील की दूरी पर एक सुरम्य स्थल पर अभी अर्द्धनिर्मित नगर है। सड़क की दायीं ओर 'आरो गराज' है जहां तरह-तरह की गाड़ियां पड़ी रहती हैं। इनके ठीक करने की व्यवस्था भी वहां पर रहती है। यहां

'प्रामिज़' (अर्थात् वचन) है जहाँ अनेकों परिवार रहते हैं। प्रत्येक फ्लैट के शयन कक्ष, भोजनालय, रसोईघर और भण्डार नीचे हैं और जीने से ऊपर एक सीढ़ी छज्जे पर जाती है जिसे कमरे का रूप दे दिया गया है। कार्यकर्ताओं के लिए एक भोजनालय है। यहां से दायीं तरफ 'प्रोमिज़' का सबसे महत्त्वपूर्ण भवन—प्रसूति-गृह—है जिसके छह भवनों के बीच में एक गलियारा है। सारा मकान सीमेंट के खम्बों पर खड़ा है तथा वातानुकूलित है।

इन प्रसूतिगृहों के एक ओर ग्रामीण गृह-निर्माण-सम्बन्धी शोधसंस्था की ओर से षट्कोणीय झोंपड़े का नमूना बना है जिसकी फूस की छत मकान से बहुत आगे निकली है जिससे धूप और वर्षा अन्दर न जा सके। इसी शोध-संस्था की ओर से बेंत का एक विशालकाय गेंद-सा कमरा है। आगे चलकर एक आटा पीसने का कारखाना है—'आरोफूड'।

आरोवील की मुख्य भूमि पर एक छोटा-सा गणेश-मन्दिर है; यहीं एक बगीचा है—'आरो आर्चर्ड'। यहीं एक स्थान, जहां चौकोने मकानों के लिए है जिन्हें 'होप' (आशा) नाम मिला है। यह अन्तर्देशीय सहयोग स्थल है। इसमें जापानी, इतालवी, स्विस, हिन्दुस्थानी मिलकर काम कर रहे हैं। यह गांव पूर्णतया आत्मनिर्भर होगा। यहां एक जर्मन ने भी मकान बनाया है जिसका नाम 'आरोसन्स होम' है। यहां एक विशालकाय जर्मन देवता अय्यप्पा की मूर्ति है। इसी के पास बच्चों का विद्यालय है। 'फौरकमर्स' उस स्थल का नाम है जहां अमरीका और कैनेडा के लोग खेती करते हैं। एक स्थान 'आरोमाडल' है जिसका एक भाग 'एस्पिरेशन' (आकांक्षा) कहलाता है जिसमें बीस-तीस झोंपड़ियां हैं।

यहीं कुछ दूरी पर, 'मातृशिशु-केन्द्र' है। यहां एक आयुर्वेदिक विभाग खोलने की भी योजना है। औषधियों के लिए एक वाटिका स्थान की व्यवस्था भी की गयी है। आरोवील में सभी चिकित्सा प्रणालियों से युक्त चिकित्सा-व्यवस्था की अभिनव योजना है।

समुद्र तट पर एक फ्रेंच महिला ने अपनी कुटिया बनायी है जिसे 'रेपो' या विश्राम कहते हैं।

आरोवील मुख्यतया चार केन्द्रों में विभक्त रहेगा—निवासगत, सांस्कृतिक, अन्तर्राष्ट्रीय तथा औद्योगिक। यहां सभी राष्ट्रों के तथा भारत के विभिन्न प्रदेशों के मण्डप होंगे। यहां एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय खोलने की भी योजना है। नियमित रूप से संचालित सभायें, समितियां, विश्व-कल्याण के लिए युवा-गोष्ठियां तथा अन्य विकासप्रद कार्यक्रमों के आयोजन की भी कल्पना है।

आरोवील में हर व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक एवं इच्छा के अनुसार कार्य करेगा। वहां किसी के लिए किसी प्रकार का बन्धन नहीं होगा परन्तु जो भी किया जाएगा, मानव कल्याण के लिए ही होगा। यहां हर क्षेत्र के कार्य होंगे, जैसे हथकरघा,

मछुओं का काम, फिल्म स्टूडियो, समाचार केन्द्र, खेती तथा और भी अनेक उद्योग-धन्धे होंगे किन्तु उनसे भौतिकवादी जीवन का पोषण नहीं, एक नए जीवन का एक नये युग का प्रारम्भ होगा। स्पष्ट है कि आरोवील केवल आदर्शों की नगरी ही नहीं होगी, वरन् भौतिक दृष्टि से भी यह सौन्दर्य, संस्कृति और शोधकार्य का स्थल होगा जहां प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को विश्व का अंश अनुभव करेगा और इस प्रकार यह समता, शान्ति और सामंजस्य का स्थल होगा।

इस प्रकार के उत्साहवर्धक पूर्णतादायक कार्य पर श्रीगणेश आरोवील से हो चुका है। 'अंधेरे को कोसने की अपेक्षा एक छोटा सा दिया जलाना ज्यादा अच्छा होता है' इस उक्ति को साकार कर देने के लिए स्थापित आरोवील की ओर भारत की ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि उत्सुकता के साथ लगी हुई है। लोकोत्तर जग-जीवन की स्थापना, अतिमानस के अवतरण का यह स्थल श्री अरविन्द के स्वप्नों को कितना साकार कर पाएगा यह भविष्य बताएगा। किन्तु योजना और प्रेरणा की भव्यता में कौन सन्देह करेगा ?

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य



परिशिष्ट (ख)

श्री अरविन्द सम्बधी हिन्दी कृतियों की सूची

हिन्दी

कृति	लेखक	प्रकाशन
१. श्री अरविन्द	श्री छोटे नारायण शर्मा	श्री अरविन्द सोसायटी (पांडीचेरी)
२. भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत	डॉ० कर्णसिंह	थॉमसन प्रेस (इंडिया) लि० प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली
३. श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन	श्री इन्द्रसेन	सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली
४. श्री अरविन्द और उनकी साधना	डॉ० के० ना० वर्मा	श्री अरविन्द सोसायटी महसुवा (म० प्र०)
५. उत्तर-योगी	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	लोकभारती प्रकाशन (इलाहाबाद)
६. श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन	डॉ० रामनाथ शर्मा	अनु प्रकाशन (मेरठ)
७. राष्ट्र-धर्म-द्रष्टा श्री अरविन्द	डॉ० रामनाथ शर्मा	राष्ट्र-धर्म प्रकाशन (लखनऊ)
८. श्री अरविन्द साहित्य एक झांकी	श्री विन्दु	श्री अरविन्द सोसायटी (पांडीचेरी)
९. श्री अरविन्द : जीवन और दर्शन	श्री रवीन्द्र	नवभारती सहकार प्रकाशन प्रतिष्ठान (दिल्ली)
१०. श्री अरविन्द का राष्ट्र को आह्वान	सं० श्री देवदत्त व श्री हृदय	सुरुचि साहित्य (दिल्ली)



२६, २०, ३८, ९९, २२७, [illegible], १२५, २४०, २४५,
२४२, २४३,

